जीवन-कथा

जीवन-कण

रघुवीरसिंह डी० लिट्०

रा ज क म ल प्र का श न
दिल्ली   बम्बई

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक—गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली
प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, दिल्ली

देवी सरस्वती के उन वरद् पुत्रों को,

जिन्होंने

भारतीय-साहित्य-मन्दिर के निर्माण में

अपना तन, मन, धन अर्पण कर दिया

सूची

१. वह प्रतीक्षा --- १
२. फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के कुछ रक्तरंजित पृष्ठ --- १४
३. सेवासदन से गोदान तक --- ५६
४. राजपूतों का उत्थान --- १०३
५. शिमला से --- १२३
६. जब बादशाह खो गया था --- १४३
७. कविवर प्रसाद के कुछ संस्मरण --- १६७

वह प्रतीक्षा

सत्, चित् और आनन्द, तीनों उसमें एक साथ पाये जाते हैं; "सत्यं शिवं सुन्दरं" के स्वरूप में ही ये तीनों गुण क्रमशः प्रस्फुटित होते हैं और उनको प्राप्त करने के लिए कर्म, ज्ञान और उपासना ही एक-मात्र उपाय हैं। किन्तु जहाँ सत्, सत्य तथा कर्म में, जीवन की कठोरता स्पष्ट देख पड़ती है, चित्, शिवम् और ज्ञान में दुरूहता तथा सात्विक रुक्षता का अनुभव होता है, वहीं आनन्द, सुन्दरता का रूप धारण किये उपासना-मार्ग में बिखरा पड़ा मिलता है। इसी कारण जहाँ कर्म की कठोरता और ज्ञान की रुक्षता अनेकों को डरा देती है, तहाँ उपासना-मार्ग का आनन्द, उस आनन्द का वह सौन्दर्य, और उस सौन्दर्य के वे प्रेमरूपी पाश अनेकों को अनजाने खींच लेते हैं और मनुष्य की उस अदृष्ट जगत्पिता से मुठभेड़ करवा देते हैं।

उस आनन्दमयी भावना का वह अदृष्ट किन्तु विमोहक सुदृढ़ आकर्षण ही प्रेम कहाता है, और इसी कारण जहाँ-जहाँ सौन्दर्य बिखरा पड़ा होता है आनंद की तरंगें उठती हैं और उस अनंत परम आत्मा की प्रेममयी भावनाएं उमड़ती हैं। प्रेम का वह अदृष्ट पाश निरंतर उलझता जाता है, अधिकाधिक सुदृढ़

होता जाता है। और जब यह पाश दो आत्माओं में भी देख पड़ते हैं तब वह सांसारिक प्रेम कहाता है, किंतु वहाँ भी सौंदर्य, आनंद और प्रेम, तीनों उलझे मिलते हैं और एक ऐसी अनबूझ पहेली पैदा कर देते हैं जिसे कवि भवभूति भी केवल यही कह कर टाल सका कि

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः।"

पुनः जब-जब आनंद के वे अदृष्ट पाश प्रेम के स्वरूप में देख पड़ते हैं, तब-तब प्रेमपात्र में अनुभूत सौंदर्य फूट पड़ता है, और वह सौंदर्य प्रेम की उमड़ती हुई भावना के साथ ही दिन-पर-दिन निखरता जाता है, अधिकाधिक मोहक, आकर्षक होता है। और जब-जब आत्मा परम-आत्मा की ओर आकर्षित होती है, जब-जब मनुष्य उस आनंद-कंदन, सौंदर्य-सागर तथा चिरप्रेमी से मिलने को मचल बैठता है...........सौंदर्य और आनंद के वे बिखरे हुए छितरे कण, प्रेम के अदृष्ट पाशों द्वारा सौंदर्य और आनंद के सागर की ओर खिंचते हैं, उससे एकी-भूत होने की उत्कंठा अधिकाधिक तीव्र होती जाती है......... तब तो उस राह में सहायक होने वाली निर्जीव वस्तुएं भी उस प्रेमी के लिए प्यारी हो जाती हैं। वे अपने प्रेमपात्र तक उसे पहुँचा देंगी.........प्रेमी हर्ष से पागल हो जाता है, आनंद में भ्रमता हुआ उनसे चिपट जाता है। प्रह्लाद ने उस तपतपाये हुए खम्भे को गले लगाया; ईसा लकड़ी के उस कठोर क्रॉस पर ही स्वयं लटक गया, हर्षातिरेक से उसका वदन फूट पड़ा

और रुधिर के आनंदाश्रु बहे; और वह दिव्य प्रेमी मंसूर हँसते-हँसते उस तीखी दर्दनाक शूली पर चढ़ बैठा।

किंतु निराकार के साथ ही साकार की भी भावना होती है, और अनेकों आत्माएं एक साकार-स्वरूप को गले लगाने के लिए या उसकी सेवा कर उसी के प्रेम में घुल-मिल जाने में ही आनंदातिरेक का अनुभव करती हैं। और तब.........प्रेम का वह अदृष्ट आकर्षण, आत्मा की वह महान् इच्छा और उसी की वह तीव्र प्रेरणा.........आनंद के वे बिखरे हुए परमाणु अनजाने एक ही स्थान में एकत्रित होने लगते हैं, सौंदर्य घनीभूत होता है; और तब वह दूसरी आत्मा आनंद के इस अतिरेक का अनुभव कर सौंदर्य के स्वरूप को धारण कर अधिकाधिक उन्नत होती है, और धीरे-धीरे उस आत्मा-रूपी चंद्र की कलाएं विकसित होती हैं और उस बढ़ते हुए चंद्रबिम्ब में परम-आत्मा प्रतिबिम्बित होने लगती है; अधिकाधिक कलाओं को प्राप्त कर, धीरे-धीरे उस परम-आत्मा की महती ज्योति फैलने लगती है; और वह उच्चतम आत्मा प्रतिबिम्बित महत्ता के आधार पर तथा अपनी विकसित उच्चता एवं पवित्रता की नींव पर अवतार के स्वरूप में देख पड़ती है। तब आनंद की चांदनी बिखरती है, परम-आत्मा का महान् सौंदर्य संसार को अधिक सुन्दर बना देता है.........और प्रेम के प्यासे जो उस चांदनी के विकास की ही बाट देखते रहते हैं, उसको पाकर फूले नहीं समाते, आनंद से विह्वल हो जाते हैं, इस चांदनी को देखकर उन प्रेमियों के

आनंदाश्रु ही बहते हैं। भक्त सर्वदा अपने भगवान के इस विकास और प्रस्फुटन की ही प्रतीक्षा करता है और जहाँ तक वह सौंदर्य एवं आनंद एक स्थान पर घनीभूत नहीं होते, सर्वत्र उसी को ढूंढ़ता है और अनजाने ही आनंद के उस सुन्दर स्वरूप की ओर खिंच जाता है।

× × ×

और उसने उसकी प्रतीक्षा में अपना सारा जीवन बिता दिया।

कौतुहल-पूर्ण बाल्य-काल में उसने रात और दिन देखे, सरदी और गर्मी का अनुभव किया, वन में पशुओं का निनाद और पक्षियों का कलरव सुना, फूलों को खिलते देखा, उनकी सुगन्ध आकर्षक प्रतीत हुई, मीठे-मीठे फलों का स्वाद चखा और तभी अनजाने ही उसकी ओर खिंच गई, अदृष्ट पाशों में बंध गई। वह कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? कहाँ है ? कब मिलेगा ? कब तक उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ? इन सब बातों को न जानते हुए भी उसने—

नभ देखि सो स्यामल मानि लियो,
छवि भानु-प्रभाहिं प्रमान लियो।
निज बैन बिनीत की पाय प्रतिध्वनि
राखत है हित जानि लियो।
अति चाह-उछाहन हौंस बढ़ी,
मिलिबे को हिये हठ ठानि लियो।

गुनि जीवन-सार सो बुद्धि के बास
बिसास के बासन छानि लियो ।

और जब अल्हड़पन-भरा कौमार्य आया, यौवन का प्रस्फुटन होने लगा, उसी की बात करने की इच्छा बढ़ी, उससे मिलने की आकांक्षा उठी। यौवन की मदभरी बाढ़ उसी की भावना के पदतल पर टकरा कर रह गई, और मस्तानी अदा उसी के रंग में रँगकर अपनी लाली खो बैठी। किंतु वह प्रेम की बाढ़ उमड़-उमड़ कर रह जाती थी; किस ओर को बढ़े ? मुनियों के उस आश्रम में, तपस्वियों की उस भूमि में किसे समय था कि उस भीलनी की उत्सुकता पूर्ण करता, उसके संग बैठकर उसी की दो बात करता।

अरे ! उसने तपस्या भी तो नहीं की, न व्रत-नेम का ही अब तक पालन किया। वह काली-कलूटी अपने यौवन का भार लिये दौड़ती फिरती है, भगवाँ भी तो उसने ग्रहण नहीं किया। हां ! परन्तु यह सब वह करती भी क्यों ?

पियारी परी प्रेम की पीर में सो,
पियरे रँग पाट रँगावति क्यों ?
विरहागि बरी वसुयाम हिये,
'वचनेस' तौ धूनी जगावति क्यों ?
निरवासना इन्द्री भईं, मन कौ
व्रत-नेमन मैं उमँगावति क्यों ?

दिन रात रमी प्रिय रामहि मैं,
करि जोग समाधि लगावति क्यों ?

यही नहीं, उसको अपना मन लगाने के लिए, अपना समय बिताने के लिए, एक सहारा तो था। उसका ध्यान, उसके प्रति अपना भाव ही उस बेचारी के लिए सब कुछ था। पुनः वह उसके हृदय में भी तो बात करता था, तब ही तो—

इक मूरति मानस मैं प्रिय की
नित साँसन में दुलरायो करै।
कबहुँ धरि हाथ सुवायो करै
कबहूँ गुन गाय जगायो करै।
अन्हवायो करै अँसुआन, हिये
की हिलोर-हिंडोर झुलायो करै।
निज बेदना बीर के संग कबौं
बिनती करि ताहि मनायो करै।

परन्तु इससे उन ज्ञानी तपस्वियों का समाधान क्योंकर होता? यद्यपि मातंग ऋषि ने उसे उपदेश देकर अपनी शिष्या बनाया, उन ज्ञानी तथा उच्च-वर्णजों के लिए तो फिर भी वह वही अछूत ही थी। एक मुनि ने कहा भी—

ऊत, अछूत, कुजाति, बिजाति !
दुजाति बनी का पखंड गढ़ाये।
देखति ना कोउ आवत जात
बिमोह की खोलन नैन मढ़ाये।

प्राकृत मंदपनो अपनो नहिं
सोचति, स्वर्ग लौं चित्त बढ़ाये।
धूरि तौ धूरि, न चन्दन होय
उतंग मतंग के मूँड़ चढ़ाये।

× × ×

युग पर युग बीत गए और मदमस्त यौवन भी प्रेम-प्रतीक्षा में बीता; प्रौढ़त्व भी ऐंठता हुआ निकल गया..........परन्तु उसकी रग-रग में, उसके अंग-अंग में उसकी प्रेम-भावना अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। उस निराकार की निर्गुण विमलता बाह्यान्तरिक स्वरूप में अधिकाधिक व्यक्त होने लगी। किन्तु उसके दर्शन की वह प्यासी........प्रेम-दुग्ध में उफान आया, परिधि को छोड़कर उमड़ पड़ा और उस उफान के वे श्वेत फेन.......

बरसैं बहु बस की बीत गईं,
उर की बढ़ी सुच्छई सीस छई।
कृसता भव-बासना की बढ़ि कै
मन तें तन आँगन पै उम्हई।
अभिलाष बढ़ी मिलिबे की इती
स्रमना-हियते हरि-हिय भई।
तिन त्यागि अदेहपनो अपनो
अवधेश के गेह में देह लई।

और अपनी उससे मिलने को, उसे जलकर एकबारगी भस्म हो जाने से बचाने के लिए उसे निर्गुण से सगुण होना

पड़ा...........फिर भी अभी प्रतीक्षा का अंत नहीं हो पाया, पृथ्वी-तल पर आकर भी वह अभी राजप्रासाद में सुख-नींद सोता था, ऐश्वर्य-पूर्ण जीवन बिताता था, या अपनी माया को ढूँढ़ता था।...........किन्तु यह कब तक ?...........जीवन-भर की प्रतीक्षा, स्नेह की वह अखण्ड साधना, अपने व्यक्तित्व का वह तर्पण..........कितना महान् आकर्षण होता है इनमें—

प्रेम को चुम्बक ऐसो खरो
गुन मैं ध्रुव-चुम्बक हू कौ लजायो
लौह की ठौर त्रिलोक को पारस
उत्तर तें खिंचि दच्छिन आयो।

× × ×

और वह भी अकेला न आया, अपनी माया को भी साथ लाया। तब यदि पतिंगा खिंचा चला आवे अपने रंग-बिरंगे पंखों को लिये उस दहकती हुई बत्ती पर भस्म होने को, और यदि लौह की वह जड़ सुई भी अपना ताज वाला सिर धुन-धुन कर अनजाने ध्रुव की उस अमिट अचल द्युति की ओर इंगित कर दे, तो कौनसी आश्चर्य की बात होती है !

× × ×

किंतु उसे तो उसके गुण भी छोड़ गए और वह बेचारी अधिकाधिक चंचल हो गई। उसकी वह एकाकी प्रतीक्षा और उस कठोर समय में भी निराधार...........। किंतु कुछ ही काल के बाद—

सरसी उद्वेग भरी इत साँस
बही उत बेगवतीं ह्वै बयार ।
इत संचित-कर्म-निपात भयो
उतपात पुरातन को पतझार ।
उमँगे रस-राग-भरे सतभाव
भयो उत पल्लव-पुँज-उभार ।
हरि-आवन की चरचा इत त्यों
मधु-आगम की कलकंठ-पुकार ।

वह आ रहा है ! आ रहा है !! आ रहा है !!! और बरसों की, नहीं, नहीं, जीवन-भर की प्रतीक्षा का अंत होगा । परंतु उसका आतिथ्य, उसके लिए भोजन, उसके लिए निवास............

अवलोकिबो है हरि के मग को
चलिबो बन में हरि-खोजन है ।
गृह-काज सदा हरि आसन हेत
सरोजन ही कौ सँयोजन है ।
हरि-भोग के जोग सँजोवन कौ
फल-चाखिबो ही इक भोजन है ।
तन है हरि-पाँयन पारिबे कौ
सवरी कौ न और परोजन है ।

और उसके लिए उत्सुकता इतनी बढ़ी, विकलता इस हद तक पहुँच गई कि उसे सर्वत्र उसी का भ्रम होने लगा । इसी कारण—

उत दौरी चली, दिसि आन चितै
हँसि बोली अहा रघुनंदन आयो।
वय देखौ, जटान की छावनि में
मुख को छवि-भास चहुं दिसि छायो।
कर इङ्गित मोहि बुलाय रह्यो
कछु अस्फुट-सो मृदु बैन सुनायो।
ढिग जाय, सगुंज मलिंदन मैं
थल-कंज तहाँ दल लोलित पायो।

और सारे दिन-भर बाट जोहने और राम-राम पुकारने के बाद—

कहि मौन भई, दृग मंद परे
सोइ मंदता भानु-मयूषन दौरी।
रज धूसर अंग की धूमिलता
करि धूमिल कान्ति दिसान की धौरी।
भइ धीम बयारि धिमातहि साँस
अचेतना ने जग-चेतन झौरी।
नभ स्यामलता छई, लीन भई
छबि स्यामली में जब राम की बौरी।

एक दिन वह क्षण, जिसकी उसने बरसों से प्रतीक्षा की थी, आ ही पहुँचा। उस दिन प्रभात के आशापूर्ण उस सुनहले क्षण में—

गृह झारी बुहारी कियो सुथरो
सरसीरुह की सुचि सेज सजाई।
मग जोहि रही खरी द्वार, छनै छन
आवत-से हरि देत दिखाई।

तब तो वह एकबारगी चित्रलिखित-सी रह गई। सुख को उस श्यामल रूप में घनीभूत सहसा आते देखकर वह घबरा-सी गई—

निछावरि ती जिनको सुनि नाम औ
बावरि ती जिनको धरि ध्यान।
गयो जिन्हे हेरत हीय हिराय
सु आपुहि आय मिले महिमान।
बिलोकत पात सो गात कँप्यो
प्रभु-पाँय परी बिसरयो निज भान।
कहाँ जल, झारी, अँगोछे तहाँ
पग आँसुन धोये औ पोंछे जटान।

और उसके वे—

सवरी की बिलोकि बिदेह दसा
करुनानिधि को भरि आयो हियो।
पुलक्यो तन अंग असक्त भये,
गर नेह-उमंगन रोधि लियो।
मुख मूक भो, साँस असीस दई
औ जटानहि सीस पै हाथ दियो।

बरूनीन बनाय कुसा, द्रव-नैनन
आँसुन सों अभिषेक कियो।

× × ×

और जब अपने उनका अतिथि-सत्कार हुआ, और जब उस भीलनी ने अपने चखे हुए मीठे बेर उन्हें खिलाये तब,...... स्वीकार करता हूँ कि—

नहिं सक्ति इतीहु कहौं महिमा
सवरी के चखे उन बेरन की।

यह काम तो शवरी का कवि ही कर सकता, और विशेषतया जब उसने पूरी सहायता भी तो एकत्रित कर ली है। वह शवरी के उन्हीं को तो पुकार कर कहता है—

आवौ सनेही सदा के सखा
फिरि ते वह तापस बेस बनावौ।
संग लै मोहिं चलौ, अपनी
अनुरागिनि वा सवरी सो मिलावौ।
जानिवो चाहौं, सु पाहुनी कैसी
लुभावनी, जामैं न जूठ बचावौ।
रीझि गये जिन बेरन पै
उनको रस मोहुकों नेकु चखावौ।

और अब जब कवि अपने उस श्याम-सखा को लेकर उन मीठे परन्तु जूठे बेरों की मिठास चखने का प्रयास कर रहा है, वह चाहता है कि अपने मित्रों को भी साथ ले चले उस बन में,

उस पुराने गये-बीते युग में तथा उस भीलनी के घर। मुझे तो कवि ने न्योता दिया है साथ चलने का, और औरों को साथ लाने के लिए भी आग्रह किया है।......और आज फिर शबरी अपने उन्हीं का स्वागत करने की प्रतीक्षा कर रही है, पर इस बार वे अकेले न जावेंगे, उसका वह कवि भी जावेगा और उनके साथ होंगे उन्हीं के दूसरे संगी-साथी।......परन्तु कवि हमारी बाट देख रहा है......क्या उसे अब अधिक देर तक हमारी प्रतीक्षा करना होगी।......नहीं ! अब उसको एक बार फिर अपने उससे मिलने के लिए प्रतीक्षा करवाना बड़ी निष्ठुरता होगी। और आज तो उसके वे फिर एक बार फिर वही श्यामल स्वरूप धारण किये परन्तु अँधेरी रात के उस घनघोर अँधेरे में कवि के श्याम-सखा, मथुरा के उस नटवर का चोला पहने, नटवर बने चुपके-से चले आ रहे है। अब देरी अधिक हो गई है चलें, वह श्याम-सखा आवे उससे पहले ही कवि के पास पहुँच जावें कि श्याम-सखा के आगमन के साथ ही शबरी तक पहुँचने के लिए चल पड़ें।

[सितम्बर, १९३६ ई०

फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के कुछ रक्त-रञ्जित पृष्ठ

मनुष्य सुख चाहता है। अपनी इस चाह को परिपूर्ण करने के लिए वह कोई बात उठा नहीं रखता। सुख की इस मृग-मरीचिका की ओर वह भीषण वेग के साथ दौड़ता है, किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह मृग-मरीचिका भी उससे दूर हटती ही जाती है। मनुष्य सुख की ओर दौड़ता है, किन्तु उसे इस बात का पता नहीं है कि सुख क्या है और यह सुख क्योंकर प्राप्त होता है। पहले वह उसे प्राप्त करने के लिए ऐश्वर्य-विलास में ग़ोता लगाता है और कुछ काल तक उसका नग्न-नृत्य ही उसकी सुख-वासना को तृप्त करता है; किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद वह उससे ऊब उठता है और अन्यत्र सुख ढूंढने लगता है। परन्तु प्रायः मनुष्य इस विलास-सागर में एक बार ग़ोता लगाने पर उससे बाहर नहीं निकल सकता है। दलदल में एक बार फँस जाने पर निकलना जिस प्रकार कठिन हो जाता है—ज्यों-ज्यों मनुष्य बाहर निकलने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों वह उसमें अधिकाधिक नीचे धंसता जाता है—वैसे ही एक बार विलासिता के सागर में निमग्न होने पर उसमें से निकलना किसी बिरले ही माई-के-लाल का काम

होता है। जो मनुष्य बचपन ही से ऐश्वर्य-विलास में पले हैं, जिनका प्रारंभिक जीवन सोने के पालने में बीता है और प्रारम्भ ही से जिनकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण की गई है, वे भला क्योंकर यह देख सकते हैं कि संसार में ऐसे भी मनुष्य विद्यमान हैं कि जिन्हें भरपेट भोजन भी नहीं मिलता, प्रतिदिन उपवास करना जिनके लिए नई बात नहीं है, रात्रि में जिनके सोने के लिए स्थान का ठिकाना नहीं है और सारा शरीर ढाँकना भी जिनके लिए एक विचित्र एवं दुरूह समस्या है। वे धनिक तथा वे राजपुत्र जो ऐश्वर्य-विलास ही में जन्म लेते हैं और प्रायः सारा जीवन उसी में बिताते हैं, उनके लिए दरिद्रता का ताण्डव-नृत्य एक कथा-कहानी है, इस दृश्य का देखना उनके लिए केवल एक जीता-जागता नाटक देखने के समान है। वे संसार में दरिद्रता देखते हैं, किन्तु उसका नग्न-नृत्य, मानव-विचार-धारा पर उसका प्रभाव, उनकी दृष्टि से बहुत दूर रहता है। दरिद्रता का दृश्य उनके हृदय में यह विचार नहीं उत्पन्न कर सकता कि यह खेल नहीं है। दारिद्र्य का मानव-जीवन, उसके विचार तथा मानव-हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका तो उन्हें पता भी नहीं लगता।

इस सुख-लिप्सा ने मनुष्य से क्या-क्या कुकर्म नहीं कराये हैं? सुख-प्राप्ति के लिए मनुष्य पतित-से-पतित कर्म करने को उतारू हो जाता है। वह धन-प्राप्ति के लिए झूठ बोलता है, दगा करता है और मनुष्य की हत्या तक करने से नहीं चूकता; और

यह सब सिर्फ़ इसी आशा से कि धन-प्राप्ति से वह अपनी सुख-वासना को तृप्त कर सकेगा। इस कुकर्म की मात्रा दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है और राज्याधीशों के लिए तो यह भीषण उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर लेती है। संस्कृत के एक कवि का कहना है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात्—यौवन, धन, ऐश्वर्य और अविचार, इन चारों में से एक-एक भी महान् अनर्थ का कारण हो सकता है, फिर जहां चारों इकट्ठे हों वहां का तो कहना ही क्या है! फ्रांस के १८ वीं शताब्दी के इतिहास में यह बात पूर्णतया दिखाई देती है। जहां राज्य-संचालन का कार्य होना चाहिए था, वह इन्द्रिय-लोलुपता तथा विषय-वासना के नग्न-नृत्य का क्षेत्र हो गया। फ्रांस के बादशाह लुई १५वें के राज्यकाल का अन्त हुआ और उसके साथ ही एक महान् क्रांतिकारी युग का आरंभ हुआ। उसने एक बार कहा था—'मेरी मृत्यु के बाद प्रलय होगी, और उसकी यह भविष्यवाणी पूर्णतया सत्य साबित हुई। इसी लुई ने कई एक सुन्दर कोमलांगियों के साथ विलास किया था और यद्यपि प्रजा भूखों मर रही थी, उसने अपनी प्रेमिकाओं के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा दिये थे। उसका पापी दूत काम्ते दि बेरी स्त्रियों के सतीत्व का व्यापार करता था। ज्योंही बादशाह किसी स्त्री से ऊब उठता था, तत्काल ही दूसरी अर्धविकसित युवती का

प्रबन्ध कर दिया जाता था। वह 'सर्वप्रिय' लुई कुकर्मों का दुर्गन्धित आगार था। उसने क्षुधा-पीड़ित प्रजा पर अत्याचार करके जो पैसा इकट्ठा किया था, उसकी सहायता से उसने कई स्त्रियों के सतीत्व को मोल लिया और अपनी सत्ता की शक्ति से बलात्कारपूर्वक ही उसने बहुतों का सतीत्व नष्ट किया था। सन् १७७४ में यही लुई मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ था, किन्तु अगर वह अकेला ही वहां होता तो कुछ संतोष भी होता। फ्रांस का बादशाह लुई १५ वां ही नहीं, आज फ्रांस की बादशाहत भी मृत्यु-शैया पर पड़ी है। समय के साथ वह भी जीर्ण हो चुकी है। किन्तु आज शैया पर अपनी जीवन-घड़ियां गिनता हुआ लुई सुदूर नवीन दुनिया से आती हुई एक विचित्र रण-हुङ्कार सुन रहा है। यह हुंकार इस शताब्दी के लिए सर्वथा नूतन है, तथा इसकी गम्भीर ध्वनि में बहुत रहस्य भरा है। बोस्टन का बन्दरगाह चाय से काला हो गया है। पेनसेल्विया में कांग्रेस की बैठक हुई है और शीघ्र ही बंकर हिल पर चलती हुई गोलियों की बाढ़, सितारे वाले झँडे के नीचे तथा "Yankee-Doodle-Doo," के सुर पर लड़ने वालों ने प्रजातंत्र की घोषणा की है। क्या सुदूर आकाश में उठी हुई यह घटा समस्त संसार पर फैल जायगी और उसे आच्छादित कर लेगी? भयंकर गर्जन के साथ लुई १६ वें के शासन-काल का प्रारम्भ हुआ। प्रलय की बाढ़ उठ रही थी, किन्तु किसी को इसका पता भी नहीं था, क्योंकि प्राय: देखा गया है कि महान् परिवर्तनों के पहले कुछ काल तक सब

तरफ़ शान्ति छाई होती है ; एकाएक भूकम्प होता है, पृथ्वी फट पड़ती है, प्राचीन चिन्ह नष्ट हो जाते हैं , सर्वत्र प्रलय होती है और संसार एकाएक चौंक कर देखता है कि प्राचीन संसार एकबारगी लुप्त हो गया, सर्वदा के लिए नष्ट हो गया। संसार के रंग-मंच पर नाटक करने वालों को यह नहीं जान पड़ता है कि आगामी भविष्य में क्या होने वाला है।

लुई सोलहवां सिंहासनारूढ़ हुआ। उस समय आगामी विप्लव में भाग लेने वाले प्रायः सब पुरुष संसार के नाट्य-मञ्च पर पदार्पण कर चुके थे। लुई नवयुवक था। तब तक कोई भी उसका वैरी नहीं था। उसकी महारानी मेरिया आँत्वोनेत आस्ट्रिया की राजकुमारी थी। वह पति से प्रेम करती थी, किन्तु फ्रांस में सर्वत्र उसका तिरस्कार होता था। इसी कारण धीरे-धीरे उसे प्रतीत होने लगा कि वह विदेश में निवास कर रही है। लुई तथा मेरिया दोनों अपने सुख के लिए करोड़ों रुपये खर्च करते थे। उन्हें सुख की असीम चाह थी। इस बात का उन्हें पता नहीं था कि उनके इस अपव्यय का भार उन असंख्य गरीबों पर पड़ रहा है, जिनके लिए जीना तक कठिन है। इस बात की फिक्र उन्हें नहीं सताती थी कि जो पैसा ये पानी के समान व्यय कर रहे हैं, वह गरीबों ने अपना पेट काट कर दिया है, अतः उनके रक्त से रंजित है और उसका यों दुरुपयोग कर वे अपने हाथ गरीबों के रक्त से कलंकित कर रहे हैं। उनकी इस वासना-पूर्ति तथा आमोद-प्रमोद का भार गरीबों पर ही पड़ रहा है जिसे वे

धीरतापूर्वक सह रहे हैं; और उनके दुःखित हृदय से गर्म तथा विषैली आहें निकलती हैं, इस बात की उन्हें खबर तक नहीं थी। उस उच्च स्थान पर स्थित, विलासमय जीवन व्यतीत करने वाले बादशाह तथा महारानी इस बात को समझ भी नहीं सकते थे कि गरीबों की आहें निकलते-निकलते अन्त में बहुत ही शक्तिशाली हो जाती हैं और निरन्तर अत्याचार सहन कर वे दुर्बल, सीधे, गरीब अन्त में विद्रोही होकर उस उच्च स्थान पर स्थित सिंहासन को उलटने के लिए उतारू ही नहीं हो जाते हैं, बल्कि उसे उलटकर विद्रोह की मदिरा से उन्मत्त वे उस सिंहासन को ठुकरा देते हैं और अपने पैरों से उसे कुचल भी देते हैं।

स्थानाभाव के कारण हमें यहां इन बातों पर विचार करने का अवकाश नहीं है कि किन-किन कारणों से यह महान् क्रांति हुई और न हम इस भीषण क्रांति का ही विशेष वर्णन करेंगे। उस क्रान्ति की विशेष-विशेष फाँसियों का वर्णन करना ही प्रस्तुत लेख का ध्येय है, अतः उन पर ही यहां विशेष ध्यान दिया जायगा। यह लेख किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं कर सकता। वर्णन तो सब अन्य भाषाओं में लिखित महान् ऐतिहासिक पुस्तकों के रूपान्तर करने के बाद लिये गए हैं; अगर कोई भी मौलिकता है तो सिर्फ यही कि आज उनको ही एक नवीन स्वरूप में पाठकों के सम्मुख यहां उपस्थित किया जाता है।

: २ :

फ्रान्स में क्रान्ति

"मेरी मृत्यु के बाद प्रलय होगी," और वही हुआ भी। लुई १६ वें के प्रधान मन्त्री तरगो ने कुछ सुधार करने चाहे किन्तु उन सुधारों से अमीरों के अधिकारों पर कुठाराघात होता था। परिणाम यह हुआ कि दो साल ही में तरगो को पद-त्याग करना पड़ा। नेकर के सम्मुख भी ऋण तथा आय-व्यय के प्रश्न सर्व प्रथम उपस्थित हुए। उसने फ्रान्स देश के आय-व्यय का व्यौरा प्रकाशित करवाया। नेकर कहाँ तक टिक सकता था? लुई एक बहुत ही सीधा बादशाह था। सुधार करने की उसे इच्छा थी किन्तु अमीरों तथा महारानी का प्रभाव उसे सुधार के मार्ग की ओर नहीं जाने देता था। नेकर के बाद केलों ने पद-ग्रहण किया। सन् १७८६ ई० में उसने बादशाह को इत्तला दी कि फ्रान्स का शीघ्र ही दिवाला निकलने वाला है। उसने कुछ सुधारों की आयोजना भी की। उसे आशा थी कि उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिए "नोतेबल्स" आज्ञा दे देगें,पर यह नहीं हुआ। अन्त में केलों को भी अपना रास्ता नापना पड़ा। तब राजकीय घोषणाएं कर कुछ सुधार करने का लुई ने स्वयं प्रयत्न किया, किन्तु पेरिस की पार्लियामेण्ट ने इसका विरोध किया और सारे देश ने उस पार्लियामेण्ट का ही साथ दिया। अन्त में बादशाह को स्टेट्स-जनरल के चुनाव के लिए आज्ञा देनी ही पड़ी। चुनाव हुआ। बादशाह की इच्छा थी कि अमीरों, पादरी तथा आम प्रजा के प्रतिनिधि भिन्न-भिन्नतया अपने मत दें किन्तु

प्रजा ने इसका भी विरोध किया। प्रजा के प्रतिनिधियों पर दबाव भी डाला गया, किन्तु सब प्रयत्न विफल हुए। प्रजा के सदस्यों ने अपने आपको "नेशनल असेम्बली" के नाम से घोषित कर दिया और सब अधिकार अपने ही हाथों में ले लिये। सारे देश में नवीन स्फूर्ति प्रकट हुई और सब तरफ स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए धूम मच गई। पेरिस के लोगों ने बेस्तिल पर हमला किया और उसको हस्तगत कर लिया। अमीर डरकर विदेश भागने लगे। पेरिस में अराजकता का साम्राज्य उपस्थित हो गया और शान्ति बनाये रखने के लिए "नेशनल गार्ड्स" भर्ती किये गए। सारे देश में 'कम्यून' नामक म्युनिसिपल कमेटियाँ स्थापित की गईं और अगस्त ४, १७८९ ई० को देश-भर में प्रजा ने अमीरों के मकान आदि जलाकर उनके प्रति अपना रोष प्रकट किया। इधर असेम्बली ने जागीर प्रथा (फ़्यूदेलिज़्म) को उड़ा देने की आज्ञा दे दी। अमीरों के सारे अधिकार छीन लिये गए और फ्रान्स, जो अब तक भिन्न-भिन्न भागों में बंटा हुआ था, संगठित किया गया। मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकारों की घोषणा की गई। यह घोषणा मानव-जाति के इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है, क्योंकि इसी के आधार पर समस्त यूरोप में १९ वीं शताब्दी में भिन्न-भिन्न क्रान्तियाँ हुईं और या तो राजाओं के अधिकार घटा दिये गए या प्रजातन्त्रों की स्थापना की गई।

फ्रान्स में दारिद्र्य का एकछत्र राज्य था, पेरिस में लोग

भूखों मर रहे थे; खाने को कहीं भी अन्न नहीं मिलता था। एक दिन पेरिस के लोगों की एक बहुत बड़ी भीड़ वार्सेल्ज़ जा पहुँची; लोग राजमहल में घुस गए। लुई को भी अब पेरिस आना पड़ा और असेम्बली की बैठकें भी अब पेरिस ही में होने लगीं। मिरेब्यू ने असेम्बली की पेरिस में बैठकें होने का बुरा प्रभाव जानकर बादशाह को यह सलाह दी कि असेम्बली का पेरिस में बना रहना हानिकारक होगा, पर उसकी एक न चली।

फ्रान्स की नवीन शासन-पद्धति निश्चित की गई। गिरजे तथा उसके शासन की व्यवस्था में सुधार करने के आयोजन होने लगे, किन्तु पादरियों ने उसका भरसक विरोध किया। वे अपने अधिकारों पर कुठाराघात नहीं होने देना चाहते थे। बेस्तिल के पतन का प्रथम वार्षिकोत्सव मनाया गया। यों एक वर्ष में ही असेम्बली ने बहुत से वाञ्छनीय सुधार अवश्य किये, किन्तु इन सुधारों के कारण उसके कई विरोधी भी उठ खड़े हुए थे। कुछ को तो यह प्रतीत होता था कि क्रान्तिकारियों ने आवश्यकता से अधिक सुधार किये और कुछ का विचार था कि अभी और भी अधिक सुधारों की आवश्यकता है। इस प्रकार फ्रान्स की क्रान्ति के इस प्रथम दौर का अन्त हुआ। इसमें जो-जो सुधार किये गए वे स्थायी थे और अभी तक रक्त-पात भी नहीं हुआ था। सब कार्य शान्तिपूर्वक ही निपटता जा रहा था।

किन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद विद्रोह-मदिरा पान कर, जब एक बार मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, तब वह कभी भी यह सहन नहीं कर सकता है कि उसकी अनुचित इच्छा-पूर्ति में किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो। देश-भर में पहले ही अशान्ति छाई हुई थी, चर्च-सुधार के कारण क्रान्तिकारियों के विरोधियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। देश के अमीर भी लगातार फ्रान्स को त्याग रहे थे; वे विभिन्न देशों के बादशाहों को इस बात के लिए फुसला रहे थे कि वे सेना सहित फ्रांस पर चढ़ाई करें और क्रान्तिकारियों का नाश करें। इधर फ्रांस में यह प्रस्ताव किया जा रहा था कि इन भागे हुए अमीरों को दण्ड दिया जाय। लुई को इन प्रस्तावों पर अपनी स्वीकृति देने के लिए कहा गया। लुई जानता था कि अगर उसने स्वीकृति न दी तो जनता की क्रोधाग्नि राजवंश के प्रति भड़क उठेगी। अतः एक दिन रात्री में वह राज-परिवार सहित भाग खड़ा हुआ, किन्तु वारनें में वह पहचान लिया गया और गिरफ़्तार कर वापस पेरिस लाया गया।

फ्रांस में अब प्रजातन्त्रवादियों के दो दल हो गए थे। गिरोंदिस्त दल में बार्नेव नामक एक सुप्रसिद्ध वक्ता भी था। ये प्रजातन्त्र चाहते थे, किन्तु इन्हें रक्तपात करते डर लगता था। इधर जेकोबीं क्लब के नेता सेन्त जस्त, रोबे-स्पियर, दाँतो और मेरा थे। मेदम रोलाँ नामक स्त्री भी इसी दल की थी। इस समय जब फ्रांस में प्रजातन्त्र की घोषणा की गई, यूरोप में लुई

को पुनः राज्यगद्दी पर बिठाने के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। फ्रांस पर चढ़ाई करने की भी तैयारियां होने लगीं। पर अत्याचार तथा निरन्तर दबाव का अनुभव किये हुए नेता, एक बार स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर यह कभी नहीं चाहते थे कि उनकी प्राणों से भी प्यारी स्वतन्त्रता पुनः छीन ली जाय। देश में यह बात पूर्णतया ज्ञात थी कि लुई भागे हुए अमीरों के साथ पुनः राज्य-प्राप्ति के लिए षड्यन्त्र रच रहा है। अतः देश की स्वाधीनता कायम रखने तथा उसे बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित बनाने के लिए प्रजातन्त्रवादियों ने लुई पर मुकदमा चलाकर उसे सजा देने का निश्चय कर लिया। मुक़दमा चलाया गया, उस पर कई दोष लगाये गए, जिनमें एक यह भी था कि उसने अन्य यूरोपीय देशों के साथ षड्यन्त्र रचकर फ्रान्स पर आक्रमण करवाने का प्रयत्न किया था, किन्तु यह साबित नहीं किया जा सका। गिरोंदिस्त दल वालों का यह प्रस्ताव कि लुई को क्या सजा दी जानी चाहिए, यह देश की जनता निश्चय करे, विफल हुआ। असेम्बली ने "लुई अपराधी है या नहीं ?" इस प्रश्न पर यों मत दिये—"अपराधी है—६८३।" एक ने मत नहीं दिया। "सज़ा क्या दी जानी चाहिए ?" इस प्रश्न पर भी मत लिये गए; मृत्यु दण्ड के पक्ष में ३६१ मत थे, अन्य प्रकार की सजा के पक्ष में ३६० मत हुए। अन्तिम बार जब इस प्रश्न पर मत लिये गए कि तत्काल मृत्यु की सजा दी जानी चाहिए, तब शीघ्र ही मृत्यु के पक्ष में ७० मतों का आधिक्य था। अतः लुई को मृत्यु-दण्ड दिये जाने की आज्ञा दे दी गई।

: ३ :

लुई की फांसी

अभागे लुई! आख़िर तुम्हारा यों अन्त होगा! साठ बादशाहों का वंशज आज न्यायानुसार मारा जायगा! उन साठ बादशाहों के हज़ार वर्षों के शासन-काल में कानून व समाज धीरे-धीरे इस स्वरूप को धारण कर रहे थे। आज अन्त में इसने एक आवश्यक, किन्तु इस भयानक मशीन का स्वरूप ग्रहण किया है। इसी जड़, अन्धी मशीन के निरंतर अत्याचार तथा भीषण प्रहार से अब तक कई हज़ारों की आत्मा तथा जीवन का नाश हुआ था, और आज वही मशीन एक बादशाहत को तथा उसके स्वरूप में बादशाह को भी, भीषण यातना दे चुकने के बाद अन्त में नाश करने वाली है। सर्वदा से यही होता आया है। क्रोधी और अत्याचारी पुरुषो! तुम्हें इस बात का विचार होना चाहिए कि अत्याचार और अन्याय का नतीजा अधिक अत्याचार तथा अन्याय की उत्पत्ति ही होता है। शाप और असत्य का प्रभाव भिन्न-भिन्न स्थानों में कितना ही क्यों न हो, पर वे अन्त में अपने कर्ता ही को नष्ट करते हैं। निर्दोष लुई अपने कई पूर्वजों के पाप का बोझा उठाये है। उसे मालूम है कि मनुष्य के गुण-दोषों का ठीक-ठीक विचार इस संसार में नहीं होता है, किन्तु उसके पूर्वजों का पाप उसे नष्ट किये बिना नहीं रहेगा।

अनेकानेक अत्याचारों को सहन करने के बाद जब कोई मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उस मृत्यु का मानव-कल्पना

पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु अगर सच पूछा जाय तो यहाँ बादशाह नहीं मारा जाता है, सिर्फ एक मनुष्य की मृत्यु होती है; बादशाहत तो सिर्फ एक आवरण-मात्र है। उसे सबसे बड़ा नुकसान जो होता है, वह उसके भौतिक शरीर का नाश है। जिस मनुष्य की तुम जान लेते हो, समस्त संसार भी इससे अधिक उसकी क्या हानि कर सकता है? वध न्याय-संगत हो या न हो, किन्तु वह तो राजा तथा भिखमङ्गों दोनों ही के लिए बहुत ही कठिन है। उन सब पर दया करो। जिसे मृत्यु-दण्ड देते हो उस मनुष्य के लिए यह दया कितनी कम है। राज्य-सिंहासन तथा फाँसी के तख्ते में कितना अधिक भेद है?

अपने अन्तिम दिनों में लुई ने बहुत ही आश्चर्यजनक उत्सर्ग तथा नैतिक धैर्य प्रदर्शित किया। उसके इस आचरण ही के कारण यह स्वातन्त्र्य-युद्ध, जो बादशाह के वध ही से सफल हुआ, एक वीभत्स कार्य प्रतीत होता है। इसी आचरण के कारण कई भूल जाते हैं कि यह आचरण उसके शासन-काल से बहुत ही भिन्न था और ऐसे ही धैर्य के साथ कई दरिद्री तथा नीच कुल में पैदा हुए पुरुषों ने भी इसी निर्दयी राजा के हाथों मृत्यु-दण्ड पाकर अपने अन्तिम दिन बिताये थे।

अब पादरी आगया है। ऐ अभागे बादशाह! इस संसार को छोड़कर तू चला जा, यह पृथ्वी द्वेष तथा ईर्षा से पूर्ण अपनी राह पर चली जायगी; तू भी अपनी राह पकड़। पर पाठको!

अभी हमें एक अतीव करुणाजनक दृश्य देखना है; अभी अपने प्रेमी तथा सम्बन्धीजनों से लुई को सर्वदा के लिए विदा होना है; कई करुणापूर्ण हृदयों को भी हमारे ही समान इसी भीषण संसार में लुई की मृत्यु के बाद रहना है। अब आप भी वेलेत क्लेरी की आँखों उन काँचवाले दरवाजों में से उस अतीव निर्दयी दृश्य को देख लें।

साढ़े आठ बज गए हैं। पास के कमरे का दरवाज़ा खुला और महारानी मेरिया अपने लड़के का हाथ पकड़े अन्दर आई। मेदम रोलाँ और मेदम एलिज़ाबेथ पीछे-पीछे आ रही थीं। ये सब बादशाह से गले मिले। कुछ काल तक पूर्ण शान्ति का साम्राज्य रहा। अगर वह भङ्ग होती थी तो केवल उनकी गहरी साँसों और उसासों से ही। रानी बादशाह को एक दूसरे कमरे मे ले जाना चाहती थी। उसे मालूम नहीं था कि उस कमरे में पादरी एजवर्थ बैठा है। बादशाह ने कहा—"नहीं! चलो, भोजन के ही कमरे में चलें, मैं वहाँ ही तुमसे मिल सकता हूँ।" वे वहाँ गये और काँच के किवाड़ बन्द कर दिये। बादशाह बैठ गया और सब खड़े ही रहे। महारानी उसके बाएँ और मेदम एलिज़ाबेथ दाहिनी तरफ़, मेदम रोलाँ सामने और छोटा राज-कुमार अपने पिता की टाँगों के पास खड़ा था। वे सब बादशाह की ओर झुक रहे थे, और कभी-कभी उसका आलिङ्गन भी करते थे। यह करुणाजनक तथा हृदयोत्पादक दृश्य कोई पौने दो घण्टे तक चलता रहा और इस अरसे में केवल यही दिखाई देता

था कि जब-जब बादशाह बोलने लगता तब-तब शाहज़ादी की आहें तथा उसासें दुगनी हो जाती थीं। यों हमारे मिलाप तथा वियोगों का अन्त होता है। जो-जो शोक हम औरों के हृदयों में पैदा करते हैं और जो थोड़ा-बहुत आनन्द हमें परस्पर आता है उसका तथा हमारे आपस के प्यार, सुख-दुःख और हमारे अन्य सारे सांसारिक उद्योगों का आखिर में यों अन्त होता है।

कोई दो घण्टे तक यह व्यथा जारी रही और तब वे एक दूसरे से विदा हुए। "प्रण करो कि तुम हमसे कल अवश्य मिलोगे।" उसने प्रण किया—"हाँ! अवश्य, एक ही बार, और एक ही बार। प्रिये जाओ, मेरे तथा अपने लिए ईश्वर से प्रार्थना करना।" यह बड़ा ही विकट दृश्य था पर अब समाप्त हो गया।

इसके बाद कोई आधी रात तक लुई अपने पादरी के साथ रहा, और फिर सो गया। प्रातःकाल जब तक क्लेरी ने उसे नहीं उठाया, वह गहरी नींद सोता ही रहा। लुई यह नहीं चाहता था कि जल्लाद उसे छुए, अतः उसने प्रार्थना की कि क्लेरी उसके गर्दन के बाल काट डाले; किन्तु उस समय शक इतना बढ़ गया था और वहां मानव-हृदय में करुणा का इतना भी पता न था कि उसकी यह अन्तिम इच्छा भी पूरी की जाती। क्लेरी ने उसके बाल जमाए और फिर अपनी घड़ी में से लुई ने अंगूठी निकाली तथा उसे बारम्बार अपनी अँगुली में पहनने लगा। यह उसके विवाह की अंगूठी थी, जो अब वह महारानी को लौटाने

वाला था। यही उसका अन्तिम मूक संदेश होगा। यद्यपि उसने महारानी से प्रण किया था कि कम-से-कम एक बार तो अवश्य वह उससे मिलेगा, किन्तु उस समय भी उसे पूरी तरह मालूम था कि उसका वह प्रण पूर्ण होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। फिर भी अपनी स्त्री और बच्चों से मिलने की इच्छा उसने पादरी से प्रकट की। पादरी ने उत्तर दिया—"यह अन्तिम मिलाप बहुत ही दुःखदायी होता है और इसके अनंतर उनसे अलग होना अतीव करुणाजनक होगा।" अतः लुई ने यह इरादा कर लिया कि वह महारानी और बच्चों को कदापि ऐसा दुःख नहीं देगा। इसके बाद उसने मास सुनी और तब सेक्रामेण्ट हुआ। अंतिम भोजन के समय भी उसे छुरी न दी गई।

नौ बजे सेन्तारे तथा अन्य सिपाही आये। कमरे का किवाड़ खोला गया। लुई पादरी के साथ गिरजे (Oratory) में था। जब वह बाहर आया, तब उसने पूछा—"क्या समय हो गया?" सिपाहियों के नेता ने कहा—"हां।" लूई ने आज्ञा देते हुए कहा—"मैं अभी काम में लगा हूँ, मेरे लिए कुछ देर ठहरो।" लुई ने वापस जाकर घुटने टिकाए और पादरी का आशीर्वाद लिया। अब लुई पुनः सेन्तारे आदि के पास लौट आया और पूछा—"क्या तुममें से कोई कम्यून का सदस्य है?" एक आगे बढ़ा। तब लुई ने मुहर से बन्द कुछ काग़ज़ उसे दिये और कहा-"ये काग़ज़ बड़ी सभा के सभापति को दे देना।" किन्तु उसने

निर्दयतापूर्वक उत्तर दिया—"मुझे कम्यून ने आपको वध-स्थान पर ले जाने के लिए भेजा है। मैं कोई काग़ज़ नहीं ले सकता हूँ। तब लुई ने वे काग़ज़ दूसरे को दिये और इस बार वे फिर वापस नहीं लौटाए गए। लुई ने तब कहा—"अच्छा! अब चलो।" ढोल की आवाज़ जब रानी ने सुनी होगी तब उसकी क्या दशा हुई होगी? वह शीघ्र ही विधवा होने वाली है। "तो वह चला गया और हमसे नहीं मिला?" रानी की आंखों से आँसुओं की अविरल धारा बहती है, लुई के बच्चों तथा बहिन की आँखें भी सूखी नहीं हैं। इन सब पर मृत्यु की भीषण काली छाया पड़ रही है। एक को छोड़कर, ये सब भी आगे चलकर अकाल मृत्यु की भेंट होंगे। सिर्फ़ एक बचेगी जो डचेज़ दी एनोलेम बनकर अपना जीवन बिताएगी, और उसका भी सारा जीवन किसी प्रकार सुखपूर्ण नहीं होगा।

उस रोज पेरिस एक विस्तृत क़बरिस्तान-सा दिखाई देता था। सशस्त्र नागरिक अपने-अपने नियुक्त स्थानों पर खड़े थे; दूसरों को आज्ञा नहीं थी कि वे इधर-उधर घूमें। आज उस मार्ग से सिर्फ़ एक ही गाड़ी जायगी। सुसज्जित सैनिक ऐसे दिखाई देते थे, मानो पत्थर की मूर्तियां खड़ी हैं। सब तरफ़ एक सनसनी-सी फैली हुई मालूम होती थी, किन्तु कोई धूम-धाम नहीं थी। जादू से पत्थर हो जाने वाले शहर के समान आज पेरिस निस्तब्ध था। अन्दर बैठे हुओं के लिए सिर्फ़ एक गाड़ी अपने निश्चित मार्ग से जा रही थी। लुई गाड़ी में बैठा मृत्यु-

समय की प्रार्थना कर रहा था, किन्तु उसके लिए यह बहुत ही कठिन था कि वह अपने विचारों को केवल स्वर्गीय बातों तक ही सीमित रख सके। वह प्रार्थना कर रहा था, दूसरी दुनिया में जाने की तैयारी कर रहा था, किन्तु फिर भी उसके विचार इसी संसार में घूम रहे होंगे।

अन्त में फाँसी-स्थान आ गया। पहले जो "पेलेस–दि–क्वींजें" कहलाता था उसीको अब "पेलेस–दि–रेव्हो ल्यूसाँ" कहते हैं। इसी महल के पास पहले एक ऊँचे चौंतरे पर लुई १५वें की मूर्ति थी; अब उसी मूर्ति के स्थान पर गिलोटिन (फांसी देने का यंत्र) रक्खा गया है। वहां सब तरफ़ चहल-पहल मची थी; दर्शकगण भी इकट्ठे हो गए थे। पास ही एक दूसरी बग्घी में दि ओरलियन्स इगलिते भी बैठे थे। टाउन हाल में कन्वेन्शन की बैठक हो रही थी; वहां प्रति तीसरे मिनिट ख़बर दी जा रही थी। गाड़ी आकर खड़ी हो गई, परन्तु लुई बैठा अपनी प्रार्थना ही पढ़ता रहा। कोई पाँच मिनिट बाद लुई बाहर निकला। उसकी मानसिक दशा कैसी है? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न पुरुष भिन्न-भिन्न देते हैं। उसके मस्तिष्क में दुःख तथा क्रोध का भीषण संग्राम मचा था; शीघ्र ही आने वाली मृत्यु की कराल छाया उसपर पड़ चुकी थी और वह मृत्यु का सामना करने के लिए तैयार हो रहा था। उतरते समय लुई ने सिपाहियों से कहा—"पादरी एज़वर्थ का ख़्याल रखना।"

ढोल बज रहे थे; लुई ने चिल्लाकर कहा—"शान्ति।" वह

जर्द रंग का कोट, भूरा ब्रिचेज़ तथा सफेद मौजे पहने हुए था। जल्लाद उसे बांधने के लिए आगे बढ़ा, किंतु लुई ने विरोध किया। लुई ने कोट उतारा और अब उसका बांहदार जाकेट दिखाई देने लगा। उसने पादरी के सम्मुख घुटने टेक दिये तथा उसका आशीर्वाद लिया। इसके बाद वह उठा और फाँसी की सीढ़ी की ओर ऊपर चढ़ने के लिए बढ़ा, किन्तु जल्लाद के सहायकों ने उसे रोका और उसे पकड़ने का प्रयत्न करने लगे। लुई बोला—"तुम क्या करना चाहते हो?"

"आपको बांधना।"

"मुझे बांधना? मैं कभी ऐसा नहीं करने दूँगा। इसकी आवश्यकता नहीं है। मुझे अपना पूर्ण भरोसा है।"

बहुत संभव था कि वहां एक भयानक काण्ड मच जाता, किन्तु पादरी एजवर्थ बोला—"महानुभाव! अपना अन्तिम उत्सर्ग कीजिए, जिससे आपमें तथा उस परमेश्वर में, जो आपका पुरस्कार होगा, एक और समानता होगी।" लुई ने सिर झुका लिया और बांधे जाने के लिए अपने हाथ फैला दिये। जल्लाद ने रूमाल से उन्हें बांध दिया; लुई की गर्दन पर के बाल भी काट दिये गए। अब फाँसी के लिए तैयारी पूर्ण हो गई थी। लुई स्थिरतापूर्वक चबूतरे पर चढ़ गया और फांसी के तख्ते की ओर बढ़ा। उसने अपने पूर्वजों के महल की ओर एक दृष्टि डाली और फिर ढोल बजाने वालों की ओर तत्काल ढोल बजाना बन्द करने के लिए इशारा किया। लुई के प्रति आदर तथा

करुणा का भाव उनके हृदय में तब भी उपस्थित था, अतः एकाएक शान्ति छा गई। लुई ज़ोर से बोला—"फ्रांसीसी भाइयो! मैं निर्दोष हूँ, अपने दण्ड देने वालों को मैं हृदय से क्षमा करता हूँ। पुनः मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि भविष्य में होने वाले रक्तपात से फ्रांस की अधिक हानि न हो और तुम अभागे........।"

× × ×

एकाएक एक घुड़सवार हाथ में तलवार लिये ढोल बजाने वालों की ओर दौड़ा और उन्हें ढोल बजाने के लिए आज्ञा दी। उस नाद में लुई के अन्तिम शब्द नहीं सुनाई दिये। जल्लाद अपना कर्तव्य पूर्ण करो। जल्लादों को भी डर था कि कहीं उनको भी मृत्यु का सामना न करना पड़े, अतः उन्होंने अभागे लुई को पकड़कर तख्ते से बाँध दिया। कहा जाता है कि इस समय पादरी एजवर्थ ने कहा—"साधु लुई के लड़के स्वर्ग को सिधार!" वह घातक कुल्हाड़ा धड़ाम से पड़ा और बादशाह का सिर धड़ से अलग हो गया। सोमवार, जनवरी २१, १७९३ ई० को यह घटना हुई। उस दिन लुई की उम्र केवल ३८ साल ४ मास और २९ दिन की थी।

जल्लाद सेम्सन लुई का सिर उठाकर दर्शकों को दिखलाने लगा और 'राष्ट्र चिरजीवि हो, प्रजातन्त्र की जय हो!' आवाज़ें दर्शकों के कण्ठों से आने लगीं। कुछ दर्शक तो उस भीषण दृश्य को देखने के लिए आगे भी बढ़े, और सारी भीड़ हर्षोन्मत्त

होकर टोपियां उछालने लगी। दि आर्लियाँ अपने स्थान को लौट गये और शहर की सभा के सदस्य हाथ मलते हुए बोल उठे—"काम समाप्त हो गया।" सारी भीड़ धीरे-धीरे वहां से बिखरकर विलीन हो गई, और दर्शकगण पेरिस में यह खबर फैलाने लगे कि न्यायानुसार फ्रान्स का अन्तिम सम्राट् मारा गया औरप्रजातन्त्र सर्वदा के लिए स्थापित हो गया। रोटियां बेचने वाले, काफ़ी के होटलों के नौकर तथा दूध की फेरी लगाने वाले सर्वदा के समान फेरी लगाने लगे; सारा संसार अपने-अपने काम में इस तरह लग गया मानो कोई बहुत ही साधारण घटना ही घटी है।

: ४ :

मेरिया आँत्वोनेत को वध-दण्ड

लुई की फांसी के साथ-साथ दूसरी क्रान्ति का प्रवाह ड़ेब वेग से बढ़ने लगा; अब भयङ्कर शासन का प्रारम्भ हुआ। गिरोंदिस्त दल का, जो प्रथम क्रान्ति का नेता था, पतन हुआ, और रोबेस्पियर, मेरे और दांतो अब सर्वप्रमुख नेता हुए। रक्त-पात आरम्भ हुआ। फ्रान्स के विरुद्ध सारा यूरोप उठ खड़ा हुआ था और उनके आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए शासकों के अधिक शक्तिशाली होने की पूर्ण आवश्यकता थी। पहले ही वे विद्रोह की मदिरा से उन्मत्त हो रहे थे, और इधर बाहरी आक्रमणों के कारण फ्रांस में किसी को भी इतना समय न था कि देश की आपत्ति के समय न्याय की ओर पूर्ण ध्यान दे सके। पुनः फ्रांस अपने बैरियों के प्रति कोई भी दया

नहीं दिखलाना चाहता था। एक नई अदालत नियुक्त की गई जिसके द्वारा कई दोषी तथा निर्दोषी दोनों को ही फांसी दी गई। रक्तपात का आरम्भ हुआ। दांतो, मेरे और रोबेस्पियर, तीनों ही रक्तपात चाहते थे जिससे कोई भी उनका विरोध न कर सके। मेरे को एक लड़की ने मार डाला। परन्तु सारे देश में एक नवीन पागलपन छा गया था। सब तरफ़ सुधार होने लगे। पञ्चाङ्ग सुधारा गया, फौजों में भरती करना आरम्भ किया गया और सुधार के विरोधियों के लिए गिलोटिन नामक भीषण यन्त्र वेग से चलने लगा, और गाड़ियाँ पुरुषों को निरन्तर मृत्यु-स्थान की ओर ले जाने लगीं। राजघराने पर आपत्ति तथा मृत्यु के जो बादल उमड़ रहे थे वे लुई को ही नष्ट करके शान्त नहीं हुए। मई ३१, १७९३ ई० को यह आज्ञा हुई कि रानी मेरिया आँत्वोनेत पर भी मुकद्मा चलेगा। राजकुमार माता से अलग किया गया और साइमन नामक एक जूते बनाने वाले के पास उसे रक्खा गया। राजकुमार के प्रति साइमन बहुत ही बुरा बर्ताव करता था और इसी कारण अन्त में वह एक दिन मर गया।

दूसरा अगस्त को प्रातःकाल तीन बजे एक बन्द गाड़ी पेरिस की सुनसान सड़क पर टेम्पल से हवालात की ओर चली जा रही थी। उसमें मेरिया आँत्वोनेत को दो अफ़सर हवालात में ले जा रहे थे। महारानी को अपने भविष्य का पूर्ण ज्ञान था

और जब उसे हवालात में चलने के लिए कहा गया तो उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ।

उन विशाल भवनों ही में, जहाँ प्रजातन्त्र की हवालात थी, जमींदारी-प्रथा का उद्गम हुआ था। वह हॉल एक समय राज्य-सत्ता का केन्द्र था, अब भाग्य के फेर से उसी हाल के नीचे के तहखाने में बादशाहत को दुःख उठाना पड़ रहा है, मानो सदियों पहिले जमींदारी-प्रथा का प्रारम्भ करने के लिए अब उसे दण्ड मिल रहा है। फ्रान्स के प्रारम्भ के बादशाहों को क्या मालूम था कि उसी महल में वे अपने वंशजों के लिए तहखाना तथा अपनी बादशाहत के लिए मकबरे का भी निर्माण कर रहे थे? समय मानव-जीवन का सवार है; वह उसे इधर-उधर भटकने नहीं देता है; ठीक राह पर ही उसे चलाता है। परन्तु आह! उसने अनजाने ही आत्मघात कर लिया, एक स्त्री का वध करवा कर उसके आँसुओं तथा रुधिर ने बीसों बादशाहों के अत्याचार और अन्याय के कारनामे धो डाले। तलघर की एक कोठरी में फ्रान्स की पदच्युत रानी पड़ी है, दो सिपाही उस पर पहरा दे रहे हैं और साथ ही यदा-कदा उसका अपमान भी करते जाते हैं।

जो दोष महारानी पर लगाये गए थे वे १२ अगस्त को उसे सुनाये गए और दूसरे ही दिन उसे अदालत में भी जाना पड़ा। एक समय जो समस्त संसार को चकाचौंध करती थी, वही रानी मेरिया आज अपना रूप, यौवन, राज्य आदि सब खोकर यहाँ

अपनी भूलों और पापों का जवाब देने के लिए खड़ी है। मानव-भाग्य के ऐसे फेरों का वर्णन किस मनुष्य की लेखनी कर सकती है? सिर्फ मौन ही उसका सफल मूक वर्णन हो सकता है। "Trial of the widow Capet" नामक पुस्तक में मेरिया के मुकदमे का पूर्ण वर्णन प्रकाशित हुआ है। संसार के साहित्य में शायद ही दूसरी कोई पुस्तक इससे अधिक करुणाजनक हो। उस मर्मभेदी मुकदमे का वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। उस वीभत्स वर्णन की एक-एक पंक्ति पाठकों की आखों से आँसू बहाये बिना नहीं रहेगी। अपने सुख के समय इसी महारानी के कारण बहुत-सी माताएँ अपने प्यारे पुत्रों पर अत्याचार होते देखकर भी दिल मसोस कर रह गई होंगी; कइयों को अपना सतीत्व भी खोना पड़ा होगा। आर्थर यङ्ग ने "Travels in France" नामक अपनी पुस्तक में एक ऐसी ही सती का वर्णन किया है जिसकी उम्र यद्यपि २८ वर्ष से अधिक नहीं थी, किन्तु ६० वर्ष से भी अधिक की दिखलाई पड़ती थी। चिन्ता, अत्याचारों की मार तथा निरन्तर निराशा के कारण उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दुर्बल हो गए थे, अकाल ही में उसके झुर्रियाँ पड़ गई थीं। ये कोरी साधारण झुर्रियाँ नहीं थीं, किन्तु प्रकृति की लेखनी से मानव समाज पर लिखे गए राजाओं के अत्याचारों के दर्दपूर्ण कारनामे थे। नहीं मालूम ऐसे कितने सन्तप्त-हृदय ईश्वर से क्या-क्या प्रार्थना करते थे! इन्हीं शापों के परिणामस्वरूप आज राजघराने की यह दशा हुई।

आज इस असार संसार में मेरिया का अन्तिम दिन है। यहाँ वह एक कमरे में बन्द है और यहीं से उसे फाँसी देने ले जायँगे। जेलर से उसने दावात-कलम तथा कागज़ माँगा और एक पत्र लिखा। पत्र क्या था, एक दुःखित हृदय की आह थी, संसार से विदा लेने वाले एक दुखी प्राणी के अन्तिम शब्द थे, और अपने प्रियजनों के लिए अपने प्रेम का अन्तिम संदेश था। पत्र जेलर को दे दिया गया, ताकि वह यथास्थान पहुँचा दिया जाय। फिर प्रार्थना की और कुछ घण्टों तक शान्तिपूर्वक उसने भी नींद निकाली।

जब वह उठी तब उसने कपड़े पहने। काला चोगा, जो लुई की मृत्यु के समय से वह अब तक पहनती आई थी अलग डाल दिया और आज एक सफ़ेद गाउन पहना। कन्धों पर एक सफ़ेद रुमाल डाला और सिर पर सफ़ेद टोपी रखी। उस टोपी पर एक काली पट्टी थी, जो इस बात की सूचना दे रही थी कि अभी तक वह अपने पति की मृत्यु का मातम मना रही है।

सारी सड़क पर दर्शकों की बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हुई थी; छत, खिड़की आदि सब स्थान भरे थे। जिनको अन्यत्र कहीं भी जगह नहीं मिली वे वृक्षों पर चढ़ गए। सेन नदी पर घना कुहरा छाया था, और सूर्य की इनी-गिनी किरणें ही उसमें से पार हो रही थीं। ग्यारह बजे फाँसी-स्थान के लिए रवाना होने का समय था। जेलर आया, उसने मेरिया के सिर के बाल काटे; और बिना कहे-सुने मेरिया ने अपने हाथ बंधवा लिए और

फिर धीरतापूर्वक वह हवालात से निकली। स्त्री-सुलभ भीरुता, हृदय की कमज़ोरी, शरीर में कंपकंपी या चेहरे पर पीलापन, कुछ भी मेरिया में नहीं देख पड़ता था। उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि एक रानी के समान पूरी शान से ही उसकी मृत्यु हो और प्रकृति भी उसे पूर्ण सहायता दे रही थी।

मेरिया का ख़याल था कि वह भी वध-स्थान तक एक बन्द गाड़ी में ले जाई जायगी। वह अपने वैरियों से भी इतनी उदारता की तो आशा अवश्य रखती थी, पर ऐसा हुआ नहीं। उसे भी अन्य कैदियों के साथ ही जाना पड़ा। अपने विचारों को दबाकर उसने सिर झुकाया, मानो वह आज्ञा का पालन करने वाली है और फिर गाड़ी पर चढ़ गई।

गाड़ी रवाना हुई। भीड़ से तरह-तरह की आवाज़ें आने लगीं। रानी के कपड़े बहुत ही मामूली थे और उसके हाथ बँधे थे। उसकी आँखें लाल तथा सूजी हुई थीं, जिससे यह स्पष्ट था कि बहुत काल तक अश्रुओं की अविरल धारा इन नेत्रों से बही है। अपनी दुर्दशा, दर्शकों की अपमानजनक झिड़कियाँ तथा अप-शब्दों से खीझकर वह बार-बार अपना होठ चबा रही थी, और अपने हृदय की भीषण अग्नि तथा मानसिक व्यथा को दबाने का निरन्तर प्रयत्न कर रही थी। गाड़ी के कुछ आगे बढ़ने पर अपमानजनक शब्द बन्द हो गए। यहाँ तो दर्शकों के चेहरों से भी निराशा ही टपकती थी और इस गंभीर शान्ति के कारण मेरिया भी अब कुछ शान्त हो गई। उसने अपने साथ वाले पादरी

पर अधिक ध्यान नहीं दिया। कई मकानों पर फ्रांस के प्रजातन्त्र के झण्डे फहरा रहे थे और स्थान-स्थान पर कुछ शब्द लिखे हुए थे। इस समय इन्हीं की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो रहा था।

अन्त में पेलेस–दि-रेव्होल्यूशन आ गया। ट्यूलेरिस के बाग़ के फाटक के पास कुछ देर तक गाड़ी ठहरी। मेरिया ने अपने पुराने महलों की ओर एक दृष्टि डाली और कुछ देर तक वह हर्ष तथा खेद के मिश्रित भाव से उधर देखती ही रही। यहीं उसके वैभवपूर्ण दिन बीते थे और यहाँ ही उसका पतन भी हुआ था। उसकी आँखों से आँसू छलक पड़े; अन्तिम समय अपना सारा जीवन छाया-चित्र के समान उसकी आँखों के सामने घूमने लगा। थोड़ी दूरी पर फाँसी तैयार थी। पादरी और जल्लाद की सहायता से वह गाड़ी पर से उतरी और सीढ़ी चढ़कर ऊपर फाँसी के तख़्ते की ओर बढ़ी। उसी समय अनजाने उसका पाँव जल्लाद के पाँव पर पड़ गया। जल्लाद चिल्ला पड़ा। रानी ने कहा—"क्षमा करना!" उसकी आवाज़ ऐसी थी, मानो वह अपने किसी राज-दरबारी को कुछ आदेश दे रही हो। कुछ क्षण के लिए उसने घुटने झुकाए और अस्पष्ट शब्दों में प्रार्थना भी की। तदनन्तर टेम्पल की ओर दृष्टि डालकर कहा—"मेरे बच्चो, एक बार फिर विदा। मैं तुम्हारे पिता से मिलने जा रही हूँ।" वह गिलोटिन की ओर बढ़ी। उसके चेहरे से मानव-जाति के प्रति घृणा का भाव टपक रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानो वह इस संसार से विदा होने के लिए बहुत ही अधीर हो रही थी। जल्लाद तो मेरिया से

भी अधिक काँप रहा था। उसने बड़ी ही कठिनाई से कुल्हाड़ा उठाया और तब...रानी का सिर कटकर गिर पड़ा। जल्लाद के सहायक ने उठाकर वह सिर दर्शकों को दिखलाया। दर्शकों की भीड़ से आवाज़ आई—"प्रजातन्त्र चिरजीवि हो।"

: ५ :

गिरोंदिस्त दल का पतन

राजा और रानी दोनों को स्वाधीनता की वेदी पर बलिदान चढ़ा दिया गया था। अब गिरोंदिस्त दल की बारी आई। ये स्वयं स्वतन्त्रता देवी के सच्चे भक्त, अनन्य उपासक थे, किन्तु रक्तपात के विरोधी थे। परिणाम यह हुआ कि रक्त और प्रतिकार के पिपासुओं ने उन्हें भी स्वतंत्रता की वेदी पर चढ़ा दिया। २ जून १७९३ ई० को ये २२ मनुष्य कैद हुए थे। उन पर अक्तूबर मास में मुक़दमा चलाया गया। मुक़दमा क्या था, न्याय का उपहास-मात्र था। बार्नेव ने वहाँ अपना अन्तिम भाषण दिया। अपने भाषण में उसने अपने पक्ष का समर्थन नहीं दिया था, किन्तु फिर भी यह भाषण बहुत ही मर्म-भेदी था। इसने जजों तक के हृदय में करुणा का संचार कर दिया और दर्शकों की आँखों से भी आँसू बह निकले। पर शीघ्र ही यह सारा खेल समाप्त हो गया और उन सब को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। वाल्ज़े ने आत्मघात कर लिया। बार्नेव के पास विष था, किन्तु उसने इस प्रकार कायरतापूर्वक मरना उचित नहीं समझा। फाँसी से पहले की रात उन्होंने शराब पीते और गाना गाते ही बिताई। उन्हें

देखकर यह कोई नहीं कह सकता था कि वे सब दूसरे ही दिन मृत्यु-दण्ड पाने वाले हैं।

आज मृत्यु का दिन है। २१ जीवित तथा वाल्ज़े की लाश, इस प्रकार इन २२ स्त्री-पुरुषों को भी लेकर आज गाड़ियाँ वध-स्थान की ओर जा रही हैं। उनके सिर खुले हैं, हाथ बँधे हैं और बाहों में कोट पड़ा हुआ है। भीड़ से आवाज़ आती है "प्रजा-तन्त्र की जय"; कैदियों में से भी कुछ चिल्लाकर कहते हैं—"प्रजा-तन्त्र चिरजीवी हो।" ब्रिसो के समान कुछ तो चुपचाप सिर झुकाये बैठे हैं। मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व एक बार फिर सबके चेहरे से उदासी विदा हो गई। राष्ट्रीय गीत "La Marseillasis" उन्होंने गाना आरम्भ किया और वही गाते हुए वध-स्थान पर भी चढ़ गए। कैसा हृदय-वेधक दृश्य था? मृत्यु उनके सामने खड़ी थी, पर वे तो गा रहे थे। एक-एक करके वे मरते जाते हैं, और गाने की आवाज क्षीण होती जाती है; सेम्सन का कुल्हाड़ा वेग के साथ नीचे उतरता है तथा एक और ध्वनि सर्वदा के लिए अनन्त में विलीन हो जाती है। अन्य मित्रों के साथ मेदम रोलां का भी तब वध हुआ। मरते समय उसने कहा—"स्वतन्त्रे! स्वतन्त्रे!! कौनसा ऐसा पाप है जो तुम्हारे नाम पर नहीं किया गया है।" वृद्ध बेली भी मारा गया। एक ने कहा—"बेली! तुम काँप रहे हो?" उसने उत्तर दिया—"हाँ! सरदी लगती है।" अन्त में मृत वाल्ज़े का भी सिर काट दिया गया। गिलोटिन की धार पर गिरोंदिस्त उतार दिये गए।

यों क्रान्ति के जन्मदाता भी क्रान्ति की भेंट हुए। वे फ्रांस में नवीन जीवन संचार करने को तत्पर हुए थे, पर उनका भी यों अन्त हुआ।

: ६ :

दाँतो का वध

रक्त-पिपासा तीव्र हो गई थी, उसको शान्त करना कठिन हो गया था। क्रान्ति में मारे जाने वालों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जाती थी। जो रक्तपात इस काल में स्वाधीनता के नाम पर हुआ, उसका संक्षिप्त वर्णन भी यहाँ नहीं किया जा सकता है; फिर पूरा वर्णन लिखने में तो एक बड़ा-सा ग्रन्थ तैयार हो जायगा। प्रतिदिन सैकड़ों मारे जाते थे और इनमें से अधिकांश तो क्रांति के जन्मदाता ही थे।

किन्तु रक्तपात के बढ़ने के साथ-ही-साथ एक उलटा प्रवाह भी बढ़ने लगा था। कई लोग अब उससे थक गए थे। निरन्तर वध होते देखकर अब वे उकता गए थे। इसके अतिरिक्त क्रान्ति के कई हितेच्छु यह जानते थे कि इस रक्तपात से क्रान्ति की हानि ही होगी। दाँतो तथा डेसमोलियाँ ने भी प्रारम्भ में रक्त-पात का समर्थन किया था, किन्तु अब वे शान्ति स्थापित करने के पक्ष में थे। इसी के पक्ष में वे अब निरन्तर पत्रों में लेख लिखने लगे। प्रारम्भ में रोबेस्पियर का भी दाँतो आदि से मतैक्य था, किन्तु रोबे-स्पियर के मित्र सोचते थे कि दाँतो आदि शान्ति स्थापित करके उनकी सत्ता छीनना चाहते हैं। वे अत्याचार ही से फ्रांस के

कर्ता-धर्ता बन बैठे थे और अब इसी की सहायता से वे आगे भी इसे अपने हाथ में बनाये रखना चाहते थे। एक दिन जब ये भिन्न-भिन्न नेता बैठकर आपस में बात कर रहे थे, देसमोलियाँ ने कहा कि "रोबेस्पियर भी शान्ति का पक्षपाती है।" बस रोबेस्पियर चिढ़ गया और उनका वैरी बन बैठा। रोबेस्पियर अपने मित्र सेन्त जस्त की सहायता से एकछत्र राज्य करना चाहता था। दोनों ही के मार्ग में सिर्फ एक कांटा था, और वह था दाँतो। बस उसके मित्रों-सहित उसे उखाड़कर फेंक देने की अब उसने ठान ली।

दाँतो को अपने आगामी भविष्य का कुछ-कुछ ज्ञान हो गया था। वह सिगड़ी के पास ही बैठा-बैठा दिन-भर स्वप्न देखा करता था। उसकी आत्मा में भी बड़ा परिवर्तन हो गया था। वह यह जानता था कि उसे शीघ्र ही मौत का सामना करना है, और इसी ज्ञान ने उसे बड़ी शान्ति तथा धैर्य प्रदान किया था। अब उसे मृत्यु का भी डर नहीं था। सम्भव है मृत्यु की सहायता द्वारा वह इस सांसारिक जीवन से छुटकारा पाने की आशा करता हो। उसके मित्रों ने उसे भाग जाने की सलाह दी, किन्तु वह बोला—"क्या मैं अपने साथ अपनी मातृभूमि को भी ले जा सकता हूँ?" उन्होंने उसे अपनी सत्ता बढ़ाने तथा दुश्मनों को दबाने के लिए कहा। उसने उत्तर दिया—"मैं औरों को मारने से स्वयं मारा जाना अधिक ठीक समझता हूँ।" शायद वह समझता था कि फ्रान्स की प्रजा उससे प्रेम तथा उसका आदर

करती थी। जब दाँतो से कहा गया कि "लोग तुम्हें क़ैद करना चाहते हैं" तो उसने सिर हिलाया और कहा—"वे मुझे क़ैद करने की हिम्मत नहीं कर सकते।" उस रात को वह एक निर्बोध बालक के समान सोया और ऐसी ही दशा में वह क़ैद भी कर लिया गया।

३१ मार्च १७६४ ई० को पेरिस में सब तरफ खबर फैल गई कि दाँतो, केमिले, आदि पकड़े गये हैं। जेलख़ाने में हलचल मच गई; कैदी भी क्रान्ति की आत्मा महान् दाँतो को देखने के लिए आने लगे। दाँतो ने उनसे सभ्यतापूर्वक कहा—"मित्रो मैं आशा करता था कि तुम्हें इस क़ैदख़ाने से छुड़ा सकूँगा, किन्तु आज तो मैं खुद यहाँ आ गया हूँ। कोई नहीं जानता है कि यह मामला कहाँ जाकर रुकेगा।" कन्व्हेनशन के लोगों ने जब यह खबर सुनी तो आश्चर्यचकित होकर विस्फारित नेत्रों से एक-दूसरे की ओर देखने लगे और आपस में कानाफूसी करने लगे कि "क्या दाँतो भी क़ैद किया गया?" एक ने प्रस्ताव किया कि अपने पक्ष में दाँतो को कहने का समय दिया जाय। रोबेस्पियर ने कहा—"क्या अब तक अन्य किसी क़ैदी को यह मौका दिया गया था?"

दाँतो को क़ैदखाने में जो विचार आये होंगे, वे अवश्य विचित्र होंगे; किन्तु दुर्भाग्यवश कहीं भी हमें उनका पूर्ण विवरण नहीं मिलता है। संसार के इतिहास में बहुत ही थोड़े महान् पुरुष ऐसे हुए हैं जिनका संसार को अधिक पता नहीं है और दाँतो उनमें

से एक है। कहा जाता है कि वह जेल में कहता था, "आज से बारह महीने पहले मैं स्वयं क्रांति की इसी अदालत की स्थापना करने के लिए प्रयत्न करता था; मैं उसके लिए ईश्वर तथा मानव-जाति से क्षमा-याचना करता हूँ। वे सब पापी हैं। जैसे रोबेस्पियर आज मुझे मृत्यु-दण्ड देने वाला है वैसे ही त्रिसो भी दे देता। मैं सारा कार्य भयानक दशा में छोड़ रहा हूँ। इनमें से कोई भी शासन-कार्य में कुछ भी नहीं समझता है। रोबेस्पियर मेरे पीछे फाँसी के तख्ते पर चला आयगा; मैं उसे वहाँ खींच लूँगा। मनुष्य पर राज्य करने से गरीब मछुआ होना अधिक अच्छा है।

दाँतो तथा उसके अन्य साथियों पर भी मुकदमा चला। सारा न्याय का नाटक था। क्या दण्ड दिया जायगा, यह पहले ही निश्चतप्राय था। उससे नाम पूछा गया तो उसने उत्तर दिया—"मेरा नाम दाँतो है। क्रान्तिकारियों में प्रायः सब ही मुझे जानते हैं। मेरा निवास-स्थान? शीघ्र ही संसार से मेरा अस्तित्व मिट जायगा, किन्तु बाद में इतिहास के मान्य पुरुषों के भवन में मेरा वास होगा।" इसके बाद वह अपने पक्ष में बोलने लगा। बार-बार सभापति उसकी बात काटता था, पर महान् दाँतो की बुलन्द आवाज़ अदालत में गूँज रही थी। जज आदि भय-भीत होकर काँप रहे थे। अन्त में वह बोला—"मेरी मृत्यु के बाद तीन मास भी नहीं बीतने पाएँगे कि मेरे शत्रुओं की भी यही दशा होगी। मुझे विश्वास है कि रोबेस्पियर शीघ्र ही मेरे पीछे

फाँसी के तख्ते की ओर खिंचा आयगा, मैं उसे खींच लूँगा।" ये शब्द उसने बार-बार कहे थे। ऐसी भविष्यवाणी करने वाले पर दया? नहीं कदापि नहीं; मृत्यु-दण्ड से कम कोई सज़ा न दी जानी चाहिए।

दाँतो मृत्यु-दण्ड पाने जा रहा है, केमिले आदि भी उसके साथ हैं। गम्भीरतापूर्वक धीरता के साथ दाँतो बैठा है। केमिले अपनी नव-वधू के लिए क्षुब्ध है; पर दाँतो कहता है—"मेरे प्यारे मित्र, उसकी चिन्ता न करो।" कहते हैं कि वध-स्थान के चबूतरे पर चढ़ने के पहिले दाँतो भी अपनी स्त्री का स्मरण कर क्षुब्ध हो गया था—"मैं अपनी प्रियतमा को कभी भी नहीं देख सकूँगा", यही उसके वाक्य थे; किन्तु दूसरे ही क्षण वह बोल उठा—"दाँतो! इतनी दुर्बलता।"

केमिले ने उस भीषण कुल्हाड़े की धार की ओर दृष्टि डाल कर कहा—"ओह! स्वाधीनता के प्रथम पुजारी का भी यों अन्त होता है!" वध से पहिले दाँतो ने चाहा कि अपने प्रिय मित्र हराल्ट से मिल ले, पर जल्लाद ने उन्हें मिलने नहीं दिया। तब दाँतो ने चिढ़कर कहा—"जाओ! कटने के बाद भी तो हमारे सिर थैले में एक ही जगह गिरेंगे, वहाँ उन्हें परस्पर मिलने से तो तुम रोक नहीं सकते हो। एक बात से मुझे शान्ति मिलती है, रोबेस्पियर भी मेरे पीछे इसी स्थान पर चला आ रहा है। मुझे शोक किस बात का है? मैंने क्रान्ति का आनन्द लूटा तथा सांसारिक सुखों का भी उपभोग किया। चलो, अब

अन्तिम नींद सोएँ।" मारे जाने से पहले दाँतो ने सेम्सन जल्लाद से कहा—"मेरा सिर लोगों को अवश्य दिखाना, वह दिखाने योग्य है।" धड़! यह सिर भी कट गया; एक महान् व्यक्ति का अन्त हो गया। कैसा समय था? ऐसे पुरुषों को केवल इसीलिए प्राण-दण्ड दिया गया कि वे रक्तपात का विरोध करते थे; मनुष्यों को क्षमा करना चाहते थे। उनका केवल यही एक अपराध था।

: ७ :

रोबेस्पियर को फाँसी

"रोबेस्पियर मेरे पीछे फाँसी के तख्ते पर खिंचा चला आवेगा। मैं उसे खींच लूँगा।" दाँतो की यह भविष्यवाणी पूर्णतया सत्य हुई। भयंकर शासन की यातना प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। ईश्वरोपासना भी अब एक नये ढंग से होने लगी थी। जो कोई रोबेस्पियर का विरोध करता था, उसका एक ही उपाय था, फाँसी का तख्ता। अब रोबेस्पियर के शत्रुओं की भी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। उससे अपना बदला लेने की वे राह देखने लगे। रोबेस्पियर की इन दिनों विचित्र दशा थी। उसकी लेखनी अब सुस्त पड़ी थी। वह प्रायः पेरिस की गलियों में अकेला ही घूमा करता था। क़ैद होने के पहले दाँतो की जो दशा हुई थी, वही बहुत कुछ अब रोबेस्पियर की भी हुई। वह दिन-रात अपने कृत्यों पर विचार किया करता था। अब उसे भी रक्तपात से घृणा होने लगी। मन-ही-मन वह अब अनुभव

करता था कि अगर यह भयंकर शासन अधिक काल तक चलेगा तो वह स्वयं भी उसकी एक आहुति हो जायगा। उसके वैरी उसको नष्ट करना चाहते थे और वह भी मरने को तैयार था। मृत्यु दौड़ी हुई उसकी ओर चली आ रही थी और रोबेस्पियर को उसके आने का पता भी न था।

वह असन्तोष जो अबतक अज्ञात रूप से बढ़ता गया था, अन्त में एक दिन असेम्बली में फूट पड़ा। रोबेस्पियर पर टीका-टिप्पणी होने लगी। उसके पुराने मित्र उसका नाम बताये बिना उसके कार्यों की आलोचना करने लगे। रोबेस्पियर चुपचाप बैठा सुन रहा था; उसके चेहरे पर पीलापन आने लगा। वह कुछ काल बाद उठा और जेकोबिन क्लब को लौट आया। क्लब में उसका एक बड़ा ही मार्मिक भाषण हुआ। श्रोतागणों की आँखों में आँसू आ गए। उसने यह बात भी गुप्त नहीं रखी थी कि अब उसका अन्त निकट आगया है। अन्त में वह बोला—"यही मेरा अन्तिम मृत्यु-पत्र है। मुझे आज मालूम हुआ है कि चाण्डाल-चौकड़ी इतनी शक्तिशाली होगई है कि मैं उससे कदापि बच नहीं सकता हूँ। बिना किसी प्रकार के शोक के मैं उनके अधीन हो जाऊँगा। तुमको मैं अपनी स्मृति छोड़े जाता हूं। यह तुमको प्रिय हो। तुम इसकी रक्षा करना।" क्लब के अन्य सदस्यों ने रोबेस्पियर की रक्षा करने की शपथ ली। वे चाहते थे कि पेरिस में विद्रोह खड़ा कर एक बार पुनः वे रोबेस्पियर को शक्तिशाली बना दें।

इधर असेम्बली में उसको पकड़ने के षड्यन्त्र रचे जा रहे थे। सब ओर से आवाज़ आती थी—"अत्याचारी का अन्त कर दो।" रोबेस्पियर ने भाषण देना चाहा, पर उसे आज्ञा नहीं दी गई। सदस्य अब उसके भाषण को भी नहीं सुनना चाहते थे; यही उसका महान् पतन था। अब रोबेस्पियर के विरुद्ध भाषण भी होने लगे। असेम्बली के सदस्य रोबेस्पियर से इतना डरते थे कि वे उसे भाषण देने की आज्ञा भी नहीं देते थे। रोबेस्पियर बार-बार भाषण देने का प्रयत्न करता था, पर वह सफल नहीं होता था। अन्त में आवेश में आकर उसने कहा—"ओ हत्यारों के सभापति! मैं भाषण देना चाहता हूँ।" इसके आगे वह कुछ भी नहीं बोल सका। एक सदस्य चट से बोल उठा—"दाँतों के रुधिर से तेरा गला रुंध रहा है।" उसे क़ैद करने की आज्ञा दे दी गई; सिपाही बुलाये गए और रोबेस्पियर, सेन्त जस्त आदि सब मित्र क़ैद कर लिये गए।

बाहर जेकोबिन क्लब वाले विद्रोह खड़ा करने का प्रयत्न करने लगे। रोबेस्पियर से उन्होंने लिखित आज्ञा माँगी, पर उसने मना कर दिया। जेकोबिन दल वालों का प्रयत्न विफल हुआ। असेम्बली की भी सेना तैयार की गई और सब ओर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया जाने लगा। विद्रोह को दबाकर सैनिक वहाँ आने लगे जहाँ रोबेस्पियर आदि थे। उनके आने की पद-ध्वनि सुनाई दी। लेबास के पास दो पिस्तौल थे। उसने एक रोबेस्पियर को दिया कि वह आत्महत्या कर ले, किन्तु

रोबेस्पियर, सेन्त जस्त आदि ने शत्रु के हाथ मरना ही अधिक ठीक समझा। वे सब शान्त, निश्चल, एक टेबुल के आस-पास बैठे थे, और उनकी आँखें दरवाजों पर लगी थीं। वे सैनिकों के पैरों की आहट सुन रहे थे और अपने दुर्भाग्य की बाट जोह रहे थे। शीघ्र ही यह निश्चय हो गया कि सैनिक आ रहे हैं। लेबास ने तो आत्महत्या कर ली और रोबेस्पियर के छोटे भाई ने भी खिड़की में से कूदकर मरना चाहा, परन्तु उसका सिर्फ पैर ही टूटा।

सिपाही आ घुसे; किवाड़ खुल गए। वे चिल्ला रहे थे —"अत्याचारी का अन्त कर दो"। एक ने पूछा—"इनमें से अत्याचारी कौन है?" मेड़ा नामक सिपाही ने दूसरे का हाथ पकड़कर रोबेस्पियर की ओर संकेत किया। उस सिपाही के हाथ में पिस्तौल थी, उसने वार कर दिया। रोबेस्पियर का सिर टेबुल पर टिक गया और रक्त की धारा बह निकली। गोली उसके दाहिने जबड़े में लगी थी। और उसके कई दाँत भी टूट गए थे। कूथन ने उसे उठाने का प्रयत्न किया, पर दुर्बलता के मारे वह स्वयं भी गिर पड़ा। सेन्त जस्त अपने स्थान पर ही बैठा रहा और रोबेस्पियर की दुर्दशा देखकर अपने वैरियों की ओर तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखने लगा। इस समय प्रातःकाल हो चला था; सिपाही अपने क़ैदियों को ले जा रहे थे। रोबेस्पियर खाट पर पड़ा था, उसके जबड़े में एक रक्तरंजित रूमाल बंधा था।

रोबेस्पियर को पास ही के कमरे में ले गए। उसे देखने के लिए आने वाले मनुष्यों का तांता बंध गया। कोई तिपाई पर चढ़ता था तो कोई बेञ्च पर खड़ा होता था। वही रोबेस्पियर, जो एक समय प्रजातन्त्र का आदर्श नेता तथा कर्ता-धर्ता था, वही आज इस दशा में पड़ा है। उसके दल के भी कई मनुष्य उसे देखने आये। वे जानना चाहते थे कि वह भी सर्वदा के लिए सोया है या नहीं। कई उस अभागे का तिरस्कार करते, कई उसके प्रति घृणा प्रकट करते और कई तो अपशब्दों का भी प्रयोग करते। सिपाही भी उसकी ओर संकेत करके दर्शकों को इस प्रकार बतला रहे थे मानो किसी अजायब-घर में कोई भीषण जन्तु आया हो। रोबेस्पियर ऐसा बनना चाहता था, मानो वह मर गया हो, जिससे उसे ये अपशब्द तो सुनने न पड़ें। पर एक सिपाही ने उसकी नाड़ी सँभाली और उसे मालूम हो गया कि वह बराबर धड़क रही थी। अन्त में सबको अदालत में ले गए। सबसे प्रश्न किये गए पर यह सब दिखावा-मात्र था, क्योंकि रोबेस्पियर बोल नहीं सकता था। अन्त में मृत्यु-दण्ड सुना दिया गया।

आज रोबेस्पियर की अन्तिम यात्रा है। यह वही राह है, जिससे क्रमशः लुई, मेरिया, गिरोंदिस्त नेता, दाँतो और सैकड़ों अन्य पुरुष गये थे, और आज उसी राह से अन्तिम बार रोबेस्पियर और उसके साथी भी जायँगे।

प्रातःकाल छः बजे गाड़ियाँ उन्हें लेने के लिए आकर खड़ी

हो गई। इस बार वध-स्थान को जाने वाले सभी पुरुष मानव-स्वरूप के जर्जरित ढाँचे-मात्र हैं; उनके हाथ, पाँव शरीर आदि सब-कुछ गाड़ी से बाँध दिये गए हैं। गाड़ी चली जा रही है, मार्ग साफ न होने के कारण गाड़ी झटके खाती है और उसके साथ ही घायल पुरुष घावों में दर्द होने के कारण चिल्ला उठते हैं। उनकी यात्रा बहुत लम्बी थी; सारी राह दर्शकों से पूर्ण थी। मकानों की छतों, खिड़कियों, झरोखों आदि सब जगह दर्शक-गण चढ़ गए थे। इन दर्शकों में स्त्रियों की संख्या बहुत थी। गाड़ी चली जाती थी और वे हर्ष के मारे चिल्लाती थीं और तालियाँ बजाती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि आज वे 'भयानक शासन' का अन्त कर देंगी। 'भयानक शासन' में मारे गए पुरुषों के बच्चे, स्त्रियाँ तथा उनके अन्य सम्बन्धी गाड़ी के चारों ओर खड़े हैं और इसलिए प्रसन्न हो रहे हैं कि रोबेस्पियर आदि पर भी स्वर्गीय प्रतिहिंसा का आघात हुआ है। रोबेस्पियर के मुँह पर रूमाल बँधा हुआ था, अतः एक आँख के अतिरिक्त उसका चेहरा बिलकुल ही नहीं दिखाई देता था। जो सिपाही गाड़ी में कैदियों के साथ बैठे थे, वे अँगुली उठाकर तिरस्कारपूर्वक रोबे-स्पियर की ओर संकेत करते थे। रोबेस्पियर ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया और कन्धों को हिलाया, मानो वह उन सब मनुष्यों पर दया दिखला रहा हो जो गलती से उस पर सारे रक्तपात का दोष मढ़ते थे। उसकी बुद्धि अब आँखों में होकर चमक रही थी। उसके चेहरे पर ईश्वराधीनता स्पष्ट थी, न कि भय के

चिह्न। जिस रहस्य ने उसके सारे जीवन पर परदा डाला था, वही अब उसके विचारों को भी छिपाये हुए था। उसने एक शब्द भी नहीं कहा।

दर्शकों में जिन पुरुषों ने इन पाँच वर्षों में बार-बार विद्रोह किया था, वे खड़े-खड़े विमूढ़ से देख रहे थे। रोबेस्पियर ही उनका धर्म था, उनका सब-कुछ था। जब रोबेस्पियर दुप्ले के मकान के पास से निकला, तब वहाँ तीन-चार स्त्रियाँ रो पड़ीं। ये ही कुछ आँसू थे, जो रोबेस्पियर के लिए सारे फ्रान्स में उस दिन बहाये गए थे। रोबेस्पियर ने अपना मुँह फेर लिया, एक निश्वास खींची और आँखें बन्द कर लीं। यह उसके बलिदान का सबसे करुणाजनक समय था। उसकी वे समस्त आकांक्षाएं अब मानो उसका उपहास कर रही थीं। कैसा अच्छा होता, अगर वह एक अज्ञात पुरुष ही रहता और उस सुथार की दूकान के ऊपर के कमरे में इलियोनारा का हाथ अपने हाथों में लिये ही बैठा रहता!

स्वाधीनता की मूर्ति के पास पहुँचने पर जल्लाद उस घायल पुरुष को वध-स्थान पर ले गए। उनमें से किसी ने दर्शकों के प्रति एक भी तिरस्कारपूर्ण शब्द नहीं कहा। उन्हें अपनी मृत्यु दर्शकों के दया-रहित चेहरों पर स्पष्टतया दिखाई पड़ती थी। रोबेस्पियर धीरतापूर्वक सीढ़ी चढ़ा। वध से पहले जल्लाद ने उसके चेहरे पर बँधा हुआ रूमाल भी निर्दयतापूर्वक खींच लिया। घायल का टूटा हुआ जबड़ा नीचे लटक गया और वह

दर्द के मारे ऐसे जोर से चिल्लाया कि वह चीख पेलेस दि रेव्होल्यूशन के दूसरी ओर तक सुनाई दी। उस कण्ठ से निकलने वाली यह अन्तिम आवाज थी। शीघ्र ही वहाँ एक भयानक शान्ति छा गई। सेम्सन ने अपना कार्य समाप्त किया। भीषण कुल्हाड़ा पड़ा और रोबेस्पियर का सिर लुढ़कता हुआ टोकरे में जा पड़ा। कुछ देर के लिए दर्शकों की साँसें बन्द-सी हो गईं और स्तब्ध होकर वे अनिमिष नेत्रों से उस दृश्य की तरफ देखते रहे, किन्तु दूसरे ही क्षण हर्षध्वनि सुनाई दी।

यों रोबेस्पियर तथा उसके मित्रों के साथ ही भयानक शासन का भी अन्त हो गया। जिन पुरुषों ने राजा-रानी का वध कर पुरातन जमींदारी-प्रथा को मिटाया, तथा निरन्तर दबाव और अत्याचार से देश को छुड़ाया था, उन्होंने यद्यपि कई निर्दोष पुरुषों का रक्त बहाया, किन्तु उन्होंने फ्रान्स का इतना बड़ा उपकार किया कि उनसे फ्रान्स-निवासी कभी भी उऋण नहीं हो सकते। "ईश्वर की चक्की धीरे-धीरे पीसती है, किन्तु अत्यन्त बारीक पीसती है।"

[जुलाई, १९२८ ई०

सेवासदन से गोदान तक

(कुछ साहित्यिक संस्मरण)

"कहीं यह 'गोदान' प्रेमचन्द का आख़री उपन्यास न हो जाय," सुदर्शनजी चिंतापूर्ण स्वर में बोले।

"क्यों ? क्या प्रेमचन्दजी को साहित्य से विराग हो गया है ?" चुलबुलाहट-भरी आवाज़ में मैं पूछ बैठा।

"क्या तुम्हें मालूम नहीं कि प्रेमचन्द जलोदर से पीड़ित मृत्यु-शय्या पर पड़ा अंतिम सांसें ले रहा है ? डाक्टरों को आशंका है कि शायद वह कुछ ही महीनों का मेहमान है।" सुदर्शनजी के इस कथन में कुछ भर्त्सना और दुःख के स्वर विद्यमान थे। वे समझ न सके थे कि किस प्रकार कोई भी हिंदी-साहित्य-प्रेमी अपने एक महान् कलाकार के प्रति ऐसा उदासीन हो सकता है कि उसके दुख-दर्द की उसे कुछ भी ख़बर न हो।

"सचमुच ?"

"एक-एक अक्षर सत्य है," सुदर्शनजी जरा ऊँचे स्वर में कह गए।

"तब तो हिंदी-साहित्य का दुर्भाग्य निकट भविष्य में ही विजयी होगा।"

"हाँ ! प्रेमचन्द की मृत्यु से होनेवाली क्षति को पूरा कर सके

ऐसा कोई कलाकार आज तो हिंदी-साहित्य-संसार में देख नहीं पड़ता है।"

सितम्बर १९३६ की तारीख २२ को कलकत्ता के 'मेजेस्टिक होटल' में हुई उपर्युक्त बातें वहीं-की-वहीं रह गईं; सुनी-अनसुनी हो गई; यह मानते हुए भी कि सुदर्शनजी झूठ बात न कहेंगे, 'रंगभूमि', 'कायाकल्प,' और 'कर्मभूमि' के लेखक को मैं अजर-अमर माने बैठा था। अभी तो कुल मिलाकर कोई ८-९ ही उपन्यास उन्होंने लिखे हैं, क्या इतना जल्द वह हमें छोड़कर चल देगा? प्रेमचंदजी की मृत्यु-वेदना को हम न समझ सके, उसका विश्वास भी न हुआ। उसका हमें ध्यान क्यों रहता?

× × ×

कोई ढाई सप्ताह बाद सीतामऊ में—

अँधेरा हो गया था, रात हो चली थी, दिये जल चुके थे, किटसन लेम्प भर-भर करता हुआ दहक रहा था, सारे ड्राइङ्गरूम को जगमगा रहा था, और एक ओर एक गद्देदार कुर्सी पर बैठा मैं रेडियो सुन रहा था। दिल्ली का प्रोग्राम आ रहा था, कोई नवयुवा सुन्दरी, अपनी दर्दभरी आवाज़ में एक तड़पती हुई गज़ल गा रही थी, प्रेम और दर्द का प्रवाह उमड़ा पड़ता था, और मैं बैठा ध्यानपूर्वक सुन रहा था। पास ही इधर-उधर बैठे थे दूसरे कुछ छात्र जो विशेषतया रेडियो सुनने ही को आए थे, परंतु फिर भी अपनी फुसफुसाहट से बाज़ आते न थे।

"........मर गए" इन दो शब्दों के मेरे कान पर पड़ते ही मैं चौंक पड़ा, उस गजल का ध्यान न रहा, चिन्ता-पूर्वक उतावली के साथ पूछा—"कौन मर गया ?"

उस छात्र के हाथ में थी श्रीमती कमलादेवी चौधरी की कहानियों का संग्रह "उन्माद"; उसने भूमिका की ओर संकेत करके कहा—"इसके लेखक प्रेमचन्द।"

"क्या प्रेमचन्द मर गए ? कब मरे ? कहां सुना या पढ़ा ? क्या यह खबर सच है ?" ये तथा इसी प्रकार अनेकों प्रश्न एक ही सांस में पूछ गया।

"प्रेमचन्द ही हिन्दी के बड़े उपन्यास लेखक थे न ? कल के 'अखण्ड भारत' में यह खबर छपी थी कि वे मर गए। उसमें लिखा था कि हिन्दी-साहित्य का सूर्य अस्त हो गया।" छात्र अपनी धीमी आवाज़ में बिना किसी उद्वेग के कह रहा था।

परन्तु विश्वास न हुआ; विश्वास करने को जी चाहता न था, एक बार फिर निराशापूर्ण स्वर में पूछे बिना रहा न गया—"क्या सचमुच प्रेमचन्दजी मर गए ?" और उस प्रश्न का फिर भी वही एक शब्दवाला उत्तर मिला—"हां"।

"भाई ! तुमने बहुत ही बुरी खबर सुनाई।" बड़ी मुश्किल से मैं यह बात कह सका। जी धक से रह गया। रेडियो बन्द कर दिया, छात्रों को भगा दिया और बढ़ती हुई रात के उस सन्नाटे में चुपचाप बैठा सोचता रहा।

'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक के सारे इतिहास की

सुध आई; उस बिखरे हुए अँधेरे के पट पर एक-एक करके प्रेमचन्दजी के वे अजर-अमर पात्र आंखों के सामने आये और लोप हो गए।......सो अब इन सबका निर्माता न रहा; अब उनकी संख्या में वृद्धि न होगी। महीनों के इन्तजार के बाद "गोदान" मिला था, एक साँस में पढ़ गया था, परन्तु अब किसकी बाट देखूँगा.....? प्रेमचन्दजी मर गए और हमें पता भी न लगा!

× × ×

सन् १९१७ की बात है; महीनों के इन्तज़ार के बाद दिवाली के दिये जलाने के दिन आए थे; बरसात के अँधेरे दुर्दिनों के बाद एक बार फिर रात जगमगा उठेगी; चपला चंचला से विभूषित होकर अब अमावस्या की वह अँधेरी रात दहकते हुए स्नेह से आलोकित होने को उत्सुक हो रही थी। इस बार भी तो भारतीय नरेश दिल्ली में एकत्रित होंगे, और पिछले साल की ही तरह इस बार भी वे जगमगाते हुए दिन दिल्ली में ही बीतेंगे। दिल्ली की दिवाली, नवयुवा दिल्ली का नवीन शृंगार...... अनोखे नये-नये किस्म के पटाखे......बचपन का वह अजीब आकर्षण आज भी दिल में गुदगुदी पैदा कर देता है।

दूसरे दिन ही तो सुबह में रवाना होना था। और आज धन-तेरस का शुभ दिन था, लक्ष्मी की पूजा होने वाली थी; आज तो माँगने पर भी कोई दो पैसा व्यर्थ उधार देने को तैयार

नहीं होता,......परन्तु सुबह सुबह ही तो आ पहुँचा सीतामऊ का वह बूढ़ा चिरपरिचित चिट्ठीरसाँ रामलाल और उसके हाथ में थी पुस्तकों की एक वी० पी० पारसल। उस दिन उस वी० पी० के दाम देते बहुतों को अखरा, परन्तु किसी भी तरह वह पारसल छुड़ा ली गई। पुस्तकें, नई पुस्तकें और उस पर एक उपन्यास और एक कहानियों का संग्रह ....दिवाली के दिनों में होने वाली उस दिल्ली की सफर में यह एक और दिलचस्प सामग्री......खुशी में खुशी बढ़ती चली जा रही थी। उस जमाने में कला का मुझे ख़याल न था, तब कौन बैठ कर यह सोचता कि लेखक कहाँ तक अपने पात्रों के हार्दिक भावों को पूर्णतया दिखाने में सफल हुआ है। उपन्यास और कहानियों के नाम में ही आकर्षण था......तब किसी ने यह पूछने की न सोची कि उस उपन्यास का लेखक कौन है, किस साहित्यिक ने उस कहानियों की रचना की है।......बस यही खयाल आ रहा था कि अब रेलवे ट्रेन में समय काटने को काफी मसाला हो गया। उस समय घटना-वैचित्र्य तथा कौतूहलोत्पादक कथानक ही आकर्षक प्रतीत होते थे; हिन्दी के तत्कालीन उपन्यासों में इन्हीं सब बातों का प्राधान्य होता था। तब कौन पूछता था बेचारे लेखक का नाम या उसकी कला की बात!

हिन्दी साहित्य और उसके साहित्यिकों के लिए वह एक अनोखा युग था। जिन्होंने माधुरी के बाद के ही दिन देखे हैं और तब ही का जिन्हें ख़याल रहा है उस प्रारम्भिक काल का

पूरा-पूरा अन्दाजा उन्हें नहीं हो सकता है। प्रेमचन्दजी अनजाने, चुपके से हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में उतर आए—कई जानते थे कि वे उर्दू साहित्य के एक अत्यन्त सिद्धहस्त सफल साहित्यकार हैं, परन्तु उस युग में इस बात को लेकर साहित्य-संसार में ढिंढोरा नहीं पीटा गया; न तो कोई शोरगुल हुआ, न बड़ी-बड़ी विज्ञापन-बाजी हुई और न लम्बे सम्पादकीय नोट या बड़ी परिचयात्मक टिप्पणियाँ ही लिखी गईं। वह "सरस्वती-युग" था, जब पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी हिन्दी को इसका आधुनिक नूतन स्वरूप प्रदान कर रहे थे और हिन्दी भाषा-भाषियों को हिंदी साहित्य की ओर ध्यान देने के कर्तव्य की सुध दिलाकर या कठोर भर्त्सना द्वारा उन्हें इस क्षेत्र में उतर पड़ने की बात सुझा रहे थे। हिन्दी भाषा का नवीन स्वरूप गढ़ा जा चुका था, परन्तु अभी तक भाषा का न तो अबाध प्रवाह बहता था और न वह मँज ही चुकी थी। पुनः अभी तक उसका अपना साहित्य नाम-मात्र को ही था। एवं अन्य भाषा के एक सिद्धहस्त साहित्यकार का मौलिक लेखक के स्वरूप में हिन्दी-साहित्य-संसार में प्रवेश करना एक महान् घटना थी; किन्तु तब इस घटना के महत्त्व को कोई समझ न सका, या यों कहिए कि किसी ने उसके महत्त्व को समझने का प्रयत्न न किया। उर्दू साहित्य पर अपना आधिपत्य स्थापित करके अब प्रेमचन्दजी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में विजय करने को निकले, परन्तु उनके साथ उनके विज्ञापनों की भीड़ न थी; वह कलाकार अकेला ही आया था, आज भी

वह अकेला ही चुपके से चल दिया है। यों उस कलाकार ने बिना जताये ही हिन्दी भाषा के इतिहास में एक नवीन युग प्रारम्भ किया और हिन्दी साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया।

× × ×

और दूसरे दिन, ट्रेन में जब चलते हुए डब्बे की पटरी पर होने वाली "खट-खट" ध्वनि की ताल के साथ प्रेमचंद के उन सप्तसरोजों को सूंघना शुरू किया तो ध्यान आया कि उसमें दी गई कई कहानियाँ पहिले ही अनेकानेक मासिक पत्रों में छप चुकी थीं। 'बड़े घर की बेटी' 'हिंदी गल्पमाला' में और 'पंच परमेश्वर' 'सरस्वती' में। किंतु इस पर भी उन सब कहानियों को एक बार फिर पढ़े बिना न रहा गया। "नमक के दारोगा" की एक अमिट स्मृति रह गई और अलोपीदीन तथा वंशीधर की उस रात की बातचीत, अदालत का वह दृश्य, और अंत में अलोपीदीन की गुणग्राहकता दिल पर चोट कर गई। भाषा-शैली के विशेषज्ञ कहते हैं कि प्रेमचंदजी की प्रारम्भिक कृतियों की भाषा उखड़ी हुई है, कई प्रयोग गलत हुए हैं, उस पर प्रांतीयता की छाप है, भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है और भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता है। किंतु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि थोड़ी-सी फुरसत के समय यदि आज भी सप्तसरोज की प्रति हाथ में पड़ जावे तो एक बार फिर उन कहानियों को पढ़कर उतना ही आनन्द उठा सकता हूँ जो उस पहले

दिन आया था। प्रेमचंदजी की प्रारम्भिक कहानियों में अनोखी नूतनता तथा अद्वितीय नवलता है, जो कई बार पढ़ लेने पर भी एक बार और पढ़ने के लिए पाठक के दिल में स्फुरणा पैदा करती है।

परन्तु 'सप्तसरोज' को एक बार पूरा पढ़ डालने में सिर्फ एक-दो घण्टे लगे और तब आई 'सेवासदन' की बारी। यह एक मौलिक उपन्यास था, और उसमें जासूसी उपन्यासों की-सी रोचकता पाने की उम्मीद न थी। और न यह किसी महान् पाठक-समाज या समालोचक-वृन्द द्वारा पसंद किया जा चुका था, एवं हिचकिचाहट के साथ इसे पढ़ना शुरू किया; किंतु उसका पहला अध्याय समाप्त करते-करते दिल ऐसा लगा कि उसके सामने अनेकों साधारण जासूसी उपन्यास फीके-से जँचने लगे। एक बार समाप्त कर लेने पर दूसरी बार फिर पढ़ने को जी चाहा। वह उम्र थी जब छोटी-सी बात पर जी रो देता था, दूसरों के दुख-दर्द दिल पर बड़ी चोट करते थे। सुमन के दुर्भाग्य की वार्ता तथा उसी के फलस्वरूप सुमन की छोटी बहिन शांता पर होनेवाले अत्याचारों को पढ़कर जी छटपटाने लगा, परंतु जिस चातुर्य्य तथा स्वाभाविक रूप से लेखक ने अंत में शांता और सदन का मेल कराया, उनके जीवन के सच्चे प्रेम-तंतुओं के सहारे उनको एक कर दिया और ज्यों सुमन के बिगड़े दिन फिर सुधरे, उसकी वह साधना, वह तपस्या तथा सेवाधर्म का पालन......; 'सेवासदन' को

पढ़कर प्रेमचंद के नाम के प्रति आकर्षण जरूर उत्पन्न हो गया, उनकी कृतियों में कुछ-न-कुछ सुन्दर तथा मनोरंजक पाने की भावना दिल में घर कर गई। इसी कारण जब कोई दो बरस बाद किसी स्थानीय विद्यार्थी के हाथ में "वरदान" नामक उपन्यास को देखा और लेखक के स्थान पर प्रेमचंदजी का नाम पढ़ा तो इकबारगी उसको छीनकर पढ़ने बैठ गया,......उतावली किसी प्रकार कम न हुई, इसके विरुद्ध वह बढ़ती हुई जान पड़ी।

वह युग उतावली का था, आज भी वह उतावली कई बार अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। सो 'वरदान' के लिए बहुत छीना-झपटी हुई और उसी के फलस्वरूप थोड़ा-बहुत रोना-धोना भी हुआ। उस समय हिंदी के प्रतिष्ठित लेखकों की पुस्तकों को छपते ही मँगवाने की प्रथा का जोर न था, और न तब आजकल की-सी विज्ञापन-बाजी ही होती थी—तब तक प्रेमचंदजी पाठकों के लाड़ले बने न थे। 'सेवासदन' के बाद एक और आश्रम निर्माण का कर्त्तव्य बाकी था। एवं जहाँ तक छपा-छपाया 'वरदान' देखने को न मिला तब तक उसके प्रकाशन का पता न लगा। और जब उस सारी छीना-झपटी के बाद उसे पढ़ने बैठा तो संध्या की उस गोधूलि में भी उसे छोड़ने को जी चाहता न था। परंतु संध्या को हवा खाने के लिए जाना जरूरी था, इधर 'वरदान' समाप्त नहीं हो रहा था और उधर जिनको 'वरदान' पढ़ने को मिला न था वे औरों को पढ़ने देना भी न

चाहते थे। 'वरदान' को लेकर दूसरा झगड़ा मचा, किंतु जब चिराग़ जल उठे तब तो सारा समय अपना ही था, वह उपन्यास भी तो छोटा ही था, रहे-सहे बाकी पृष्ठ रात्रि को शीघ्र ही समाप्त हो गए। छात्रों के लिए 'वरदान' में एक विशेष आकर्षण है; उसका नायक भी एक अच्छा विद्यार्थी तथा एक मँजा हुआ खिलाड़ी है और इसी कारण जो कोई पाठक स्वयं अच्छा खिलाड़ी और विद्यार्थी होता है, वह उस नायक में अपनी भावनाओं तथा उच्चाकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब देखता है। 'वरदान' युवकों का उपन्यास है।

किन्तु 'वरदान' को एक ही बार पढ़ सका, दूसरे की चीज़ थी, उसे लौटाना पड़ा, तब भी उसके पाठक बहुत थे। उस युग में यद्यपि कई पुस्तकों को एक से अधिक बार पढ़ने को जी चाहता था, परन्तु फिर भी उनको एकत्रित करने की, उन्हें अपने जीवन का चिरसंगी बनाने की चाह तब तक अधिक बढ़ी न थी। प्रेमचंदजी के नाम में आकर्षण अवश्य पैदा हो गया था, किन्तु तब तक वे एक लब्ध-प्रतिष्ठित उपन्यासकार माने न गए थे। एवं 'वरदान' को यों ही माँगकर शायद एकाध बार फिर पढ़ा, परन्तु उसकी प्रति मोल न ली, और खरीदने को जी चाहा तब तक शायद वह उपन्यास अप्राप्य हो गया था। इन पिछले दिनों में उसे फिर नहीं पढ़ा है और उसके विषय में जो कुछ लिखा है वह उन्हीं प्रारम्भिक दिनों के संस्मरणों के आधार पर।

'वरदान' प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन की एक विशिष्ट दशा

की सीमा अंकित करता है। 'सेवासदन' और 'वरदान' दोनों प्रधानरूपेण सामाजिक उपान्यास हैं। समाज की उलझी हुई समस्याओं को लेकर ही प्रेमचंदजी ने अपने कथानक को उठाया है और उन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। तब तक भारतीय जनसमाज और हिन्दी का साहित्य-संसार राजनीति से पूर्णतया विमुख था, और राजनैतिक आन्दोलन केवल कुछ शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित था। 'बंग-भंग' ने यद्यपि बंगाल में हड़कम्प पैदा किया था, उसके फलस्वरूप महाराष्ट्र में तूफान उठा था, परन्तु हिंदी-भाषा-भाषी प्रांत तब भी निर्जीव थे और अधिक-से-अधिक 'अकबर' या 'चकबस्त' की शायरी पढ़कर संतुष्ट हो जाते थे। परंतु इसके विपरीत सन् १९२१ के असहयोग आंदोलन का हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, उसके फलस्वरूप राजनैतिक प्रश्न किस प्रकार जनसमाज के सोचने और समझने की वस्तु हो गए, इसका स्पष्टीकरण प्रेमचंद जी के उपन्यासों से होता है। 'सेवासदन' के प्रेमचंद 'प्रेमाश्रम' के प्रेमचंद से बहुत विभिन्न हैं। उपन्यास जगत में उनकी महान् सफलता का रहस्य इस निरंतर विकसित होते हुए राष्ट्रीय जीवन तथा तत्संबंधी समस्याओं के बढ़ते हुए क्षेत्र में निहित है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प और कर्मभूमि में भारत के विगत सोलह वर्षों के राजनैतिक इतिहास की पूरी-पूरी विशद विवेचना तथा उस युग का पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब है। उन्हें पढ़कर पाठक को

भारत के निरंतर बदलते हुए राजनैतिक चित्रपट का पूरा-पूरा दृश्य देखने को मिलता है।

'वरदान' छपा और प्रकाशित हुआ, परंतु साधारण जनसमाज की तो क्या कही जाय, हिन्दी के दिग्गज साहित्यिकों को भी उसका पता न लगा, और 'प्रेमाश्रम' की भूमिका लिखते समय श्रीयुत रामदासजी गौड़ लिख गए—'प्रेमाश्रम' आपका (प्रेमचन्दजी का) दूसरा उपन्यास है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि 'सेवासदन' के सामने 'वरदान' टिक न सका और जब 'प्रेमाश्रम' सामने आया तो पाठकों ने 'सेवासदन' के लेखक की कृति के स्वरूप में ही 'प्रेमाश्रम' को स्वीकार किया।

× × ×

किन्तु तब तक प्रेमचन्दजी हिन्दी के सिद्धहस्त कहानी-लेखक माने जा चुके थे। इन्हीं दिनों 'नवनिधि' और 'प्रेमपूर्णिमा' नामक दो गल्प-संग्रह प्रकाशित हुए और इन संग्रहों से प्रेमचन्दजी की ख्याति अधिकाधिक स्पष्टतर होती जा रही थी। 'नवनिधि' की सब कहानियाँ एक-से-एक अधिक सुन्दर हैं और उसके प्रकाशन के कुछ ही बरसों बाद जब भारत में राष्ट्रीय भावनाओं की बाढ़ आई तब तो उस संग्रह की कई कहानियाँ अधिकाधिक चाव के साथ पढ़ी जाने लगीं, और भारत के उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखने वाले 'रानी सारन्धा', 'पाप का अग्निकुण्ड', 'मर्यादा की वेदी' और 'जुगनू की चमक' में

अब तक जितने उपन्यास हिंदी में पढ़ने को मिले थे वे सब सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी या इसी प्रकार के केवल घटना प्रधान ही थे। कोई मौलिक उपन्यास जिसमें तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं को लेकर कुछ लिखा हो, अब तक हिंदी में पढ़ने को नहीं मिला था। बंकिम बाबू का आनंदमठ एक ऐतिहासिक उपन्यास-मात्र था, यद्यपि उसका राजनीनिक महत्त्व बहुत बढ़ गया था। उन्हीं दिनों रविबाबू के दो बंगला उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ था, 'घरे बाहिरे' तथा 'गोरा' का; और इन दोनों में ही तत्कालीन समस्याओं की विवेचना थी। बंग-भंग को लेकर उठने वाले राजनीतिक आन्दोलन की या पूर्व और पश्चिम की उस कठिन तथा हल न हो सकने वाली समस्याओं को लेकर रविबाबू चले थे, परंतु उस समस्त-भारत-व्यापी जागृति का जो भारतीय समाज के निम्नतल तक हलचल पैदा करने लगी थी, विवरण रविबाबू के उपन्यासों में न था। जब ये ऐतिहासिक आन्दोलन उठे तब तक रविबाबू उपन्यास लेखन की ओर से उदासीन हो चुके थे। एवं इन राष्ट्रीय आन्दोलन, तथा उनकी समस्याओं की विवेचना करने और उन्हीं के कथानक को अपने उपन्यासों में बुनने या उन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करने वाले भारतीय साहित्य में अकेले प्रेमचन्दजी ही थे। इस प्रकार भारतीय इतिहास के भावी विद्यार्थियों के लिए प्रेमचंद के वे चार राजनीतिक उपन्यास, 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' विशेष महत्व

रखते हैं। उस निकट या सुदूर भविष्य में जब इतिहासकार इस परिवर्तन युग का इतिहास लिखेगा, उसे इन चार उपन्यासों का सहारा अवश्य लेना होगा।

हम अब तक प्रेमचन्दजी के सच्चे सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक महत्त्व को नहीं समझ सके हैं। 'प्रेमाश्रम' के लेखन में प्रेमचन्दजी की सफलता हिंदी साहित्य की एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसका ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक कूता नहीं गया। 'प्रेमाश्रम' द्वारा उन्होंने साहित्य को तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन के साथ संबद्ध किया और यों हिंदी साहित्य को नवीन स्फूर्ति प्रदान की। हिन्दी साहित्य में उपन्यास तथा गल्प लेखकों के लिए एक नवीन क्षेत्र खुला। अनेकानेक त्रुटियों तथा दोषों के होते हुए भी प्रेमचन्द जी अपने युग तथा क्षेत्र में एकाकी हैं और रहेंगे। आगामी भविष्य में कोई उपन्यासकार इस विगत युग की घटनाओं को लेकर भले ही कुछ लिखे, परन्तु वह कहाँ तक तत्कालीन भावनाओं, सन्देहों, कठिनाइयों तथा राष्ट्रीय आवेश, आत्मा और उद्वेग को समझ सकेगा, उन सब विभिन्न भावों को सफलतापूर्वक प्रदर्शित कर सकेगा, यह देखने पर ही कहा जा सकता है। वह कला की दृष्टि से अधिक सफल हो जावे परन्तु वह पूर्णतया इस युग की भावनाओं और समस्याओं का न तो ठीक तौर पर प्रदर्शन ही कर सकेगा और न उस युग की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधि ही बन सकेगा। इसी कारण देशकाल को प्रतिबिम्बित करने में प्रेमचंद-

जी इस विगत युग के अनेकानेक संसार-प्रसिद्ध लेखकों से भी बहुत आगे बढ़ गए हैं। राजनीतिक तथा तत्कालीन समस्याओं के साथ ही प्रेमचन्दजी ने मनुष्य की चिरन्तन भावनाओं को भी नहीं भुलाया; इसी कारण साहित्यिक तथा कला की दृष्टि से भी उनकी कृतियों का महत्त्व बना रहेगा। हिन्दी के ही नहीं सारे भारतीय साहित्य में प्रेमचन्दजी को बहुत ही उच्च स्थान दिया जायगा; वह उनके लिए सुरक्षित है।

प्रेमचन्दजी असहयोगी थे और उस राजनीति-विशेष के पूरे समर्थक भी, किन्तु उन्होंने दूसरे पक्ष को भी पूरा-पूरा दिखाया है। उन्होंने राष्ट्र के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला, किन्तु वे प्रधानतया साधारण मध्यश्रेणी के प्रतिनिधि और किसानों तथा ग्रामीण जीवन की दशा के सच्चे चित्रकार थे। इन्हीं सब समस्याओं को लेकर 'प्रेमाश्रम' में उपन्यासकार ने अपनी क़लम चलाई है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी की सफलता के बारे में दो मत नहीं हो सकते हैं, किन्तु यह बात स्वीकार करते हिचक नहीं होती कि पढ़ते समय कहीं-कहीं उसमें आनेवाले विस्तृत वादविवादों से जी ज़रूर ऊब उठता था, और यद्यपि उस समय का बहुत कुछ साहित्य पढ़ा था और तब तक थोड़ी बहुत अक्लमन्दी का दावा भी करने लगा था, किन्तु जिन महान् समस्याओं की विवेचना प्रेमचन्दजी ने 'प्रेमाश्रम' में की थी उनको उस समय मैं ठीक तौर पर नहीं समझ सका था। सम्भव था कि इन सब कारणों से ही प्रेमचन्दजी के इस

नये उपन्यास के बारे में धारणा वैसी उच्च न रहती जैसी कि 'सेवासदन' के बारे में थी। किन्तु यह एक योगायोग की बात है कि 'प्रेमाश्रम' पढ़ने के कुछ ही दिनों पहले एक बार रवि-बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' के अनुवाद को एक बार पूरा पढ़ने का साहस किया था। यद्यपि कई स्थानों में वादविवाद समझ में नहीं आये थे, और उनकी प्रश्नावलियाँ तथा उत्तर में दिये गए कारणों की क्रमबद्ध लड़ियों को पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाता था, परन्तु एक बार तो अक्षर-अक्षर पढ़ा कि कम-से-कम दूसरों को तो यह कह सकूँ कि 'गोरा' पूरा पढ़ा है। एवं 'गोरा' पढ़ने के बाद 'प्रेमाश्रम' को पढ़ना उतना श्रम-जनक प्रतीत नहीं हुआ। यह भी खयाल आया कि संसार-प्रसिद्ध साहित्यिक नोबुल पुरस्कार-विजेता रविबाबू के उपन्यास में जो पाया जाता है वह ठीक ही होगा; ऐसे महान् साहित्यकार की कृतियों में कोई दोष नहीं हो सकते हैं; और जो बात रविबाबू के उपन्यासों में है वही यदि किसी दूसरे के उपन्यास में भी पाई जावे तो वह महत्ता की ही द्योतक होगी। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम'' को एक बार पढ़कर रख दिया, दूसरी बार पढ़ने का साहस न हुआ और यही समझा कि उपन्यास-लेखक अवश्य ही एक महान् गम्भीर विचारक भी है जिसकी बातों को पूरा-पूरा समझना एक साधारण पाठक के लिए किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। उन वादविवादों को न समझ कर प्रेमचन्दजी की महत्ता तथा उनकी गहन विचारशीलता का अनुभव किया। यह बात स्वीकार करते शर्म आती है, परन्तु यह

एक सत्य है कि रविबाबू के 'गोरा' और प्रेमचन्दजी के 'प्रेमाश्रम' को अब तक मैंने दूसरी बार नहीं पढ़ा है।

× × ×

किन्तु जब 'रंगभूमि' छपकर निकली तो उसको एक से अधिक बार पढ़े बिना नहीं रहा गया। 'रंगभूमि' के प्रकाशन से एक बारगी 'प्रेमाश्रम' विस्मृति के अंधकार में पड़ गया, और प्रेमचन्दजी की ख्याति 'रंगभूमि' से ही सम्बद्ध हो गई। जिस प्रवृत्ति तथा जिस कला का प्रारम्भ 'प्रेमाश्रम' में होता है वही 'रंगभूमि' में जाकर पूर्णरूपेण विकसित होती है। पुनः इसी समय हिन्दी-साहित्य में एक नवीन जागृति का प्रारम्भ हो रहा था। 'माधुरी' के प्रकाशन के के साथ ही हिंदी-साहित्य में अद्वितीय स्फूर्ति पैदा हुई; अद्भुत क्रांति का प्रारम्भ हुआ और हिन्दी में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। बड़े ज़ोर-शोर के साथ 'रंगभूमि' का पट खुला और ज्ञात हुआ कि बहुत बड़ी मांग के ख़याल से इसका पहला संस्करण कोई ५००० प्रतियों का छापा गया है। गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित इस ग्रन्थ ने प्रेमचन्दजी को एकबारगी हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखक तथा भारत का एक महान् कलाकार प्रमाणित कर दिया। विशद सर्वव्यापी विज्ञापनों के साथ ही पुस्तक की सुन्दर रचना ने सोने में सुगन्ध का काम दिया। छपकर निकलते ही उसकी एक प्रति मेरे हाथ लगी और ग़लती न करता हूँ तो सन् १९२५ की गर्मी की छुट्टियों में उसको पढ़ने बैठा। यों ही छुट्टी के दिन थे, गर्मी के दिन

लम्बे होते ही हैं, फिर भी दिन-रात एक की और उन मोटी-मोटी जिल्दों को एक बार समाप्त कर फिर दूसरी बार पढ़ा।

इस बार जब प्रेमचन्दजी अपनी नवीन कृति लेकर आए तब तक उनकी भाषा मँज चुकी थी; भाषा में प्रौढ़त्व आ चुका था; उसका प्रवाह अबाध गति से चलता था; लेखक की अपनी एक विशिष्ट शैली बन चुकी थी। भाषा-शैली-विज्ञों का यह कहना कि प्रेमचन्दजी की प्रारम्भिक कहानियों तथा उपन्यासों की भाषा उखड़ी हुई है, प्रेमचन्द के साथ अन्याय करना है। जिस समय प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया वह हिंदी भाषा के लिए एक संधियुग था। तब बड़ी तेजी के साथ भाषा में परिवर्तन हो रहे थे; नित नए प्रभावों से हिंदी प्रभावान्वित हो रही थी; हिंदी का क्षेत्र बड़े जोरों से बढ़ रहा था और स्वयं को अपने इस नवीन कर्तव्य को पूरा करने के उपयुक्त बनाने में उन्हें तब कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत हो रही थी। जैसा कि हिंदी भाषा का प्रत्येक इतिहासकार स्वीकार करता है, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में—जो सरस्वती-युग भी कहा जा सकता है—जो ख़ास बात हुई वह उसकी व्याकरण-सम्बन्धी निर्बलता का परिहार तथा विशिष्ट भाव-प्रकाशन या विषय-विवेचन के लिए उपयुक्त शैली का प्रारम्भ है। परन्तु उस युग में ये विभिन्न शैलियाँ पूर्ण परिपक्व दशा को नहीं पहुँची थीं; तब तक उनके निर्माण का प्रारंभिक युग ही था। हिंदी भाषा भी नए वातावरण तथा युग के अनुकूल मँजी

न थी। प्रेमचन्दजी उर्दू साहित्य के धुरंधर लेखक माने जा चुके थे, एवं उनकी शैली को अपरिपक्वता का दोष देना अनुचित है, अपरिपक्व थी तो उनकी भाषा ही। यह बात स्पष्ट है कि असहयोग युग के पहिले की हिंदी में संस्कृत शब्दों का ही बाहुल्य रहता था; विशुद्ध हिन्दी का ही प्राधान्य रहता था; हिंदी भाषा ने तब तक अपने द्वार खोले न थे। तत्कालीन प्रवृत्ति हिंदी-भाषा को उसी संकुचित दायरे में घुमा-फिरा रही थी, भाषा तथा शैली को स्वरूप दिया जा चुका था, किन्तु वे अब तक पूरी तरह से खरादे नहीं जा चुके थे।

प्रेमचन्दजी की प्रारंभिक कृतियों में भाषा का एक अजीब सम्मिश्रण देख पड़ता है। यह सब लेखक की भीरुता के लक्षण नहीं थे, बल्कि भविष्य में आनेवाली नवीन सम्मिश्रित शैली की सूचना देता था। लेखक उर्दू का एक सिद्धहस्त लेखक था, अतएव जब उसने हिन्दी में लिखना शुरू किया तो वह हिंदी की तत्कालीन संस्कृत प्रधान शब्दावली को अपनी शैली में जोड़ने लगा। वह युग उस सम्मिलित भाषा-शैली के उपयुक्त न था, और भाषा भी उसके उपयुक्त न बन पाई थी, और इसी कारण भाषा-शैली-विज्ञों को उसमें अनेकानेक त्रुटियां देख पड़ती हैं। परन्तु यह एक नवीन शैली थी जिसको पाठकों ने पसंद किया; पहले दिन से ही यह लोकप्रिय हो गई। कुछ ही सालों में जब हिंदी-भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा का आदरणीय स्थान दिया गया तो इस नवीन लोकप्रिय शैली ही ने हिंदी भाषा के भावी विकास के

लिए भावी क्षेत्र की राह दिखाई। अब यह अत्यावश्यक हो गया कि हिंदी कुछ इने-गिने साहित्यिकों या विद्वानों ही की वस्तु न रहकर साधारण जनसमाज की सम्पत्ति बन जावे। सन् १९२१ के आन्दोलन ने हिन्दी की परम्परागत शैली की त्रुटियाँ अधिकाधिक स्पष्ट कर दीं; अब आवश्यकता ऐसी भाषा की जान पड़ने लगी जिसकी सहायता से जनता के साथ साहित्य का लगाव स्थापित किया जा सके। सन् २१ के आन्दोलन की एक प्रधान देन है हिंदी की हिंदी-उर्दू मिश्रित शैली का यह चलता स्वरूप। हिंदी भाषा का क्षेत्र अब संकुचित न रहा और इस नवीन युग के प्रमुख प्रतिनिधि प्रेमचन्दजी ही थे। इसी कारण इन्होंने इस शैली को अपनाया या यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उन्होंने अनजाने इस शैली को इसके वर्तमान स्वरूप में ढाला। 'रंगभूमि' की एक बड़ी विशेषता यही है कि इसमें उस शैली-विशेष का बहुत-कुछ परिपक्व स्वरूप देखने को मिलता है। ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द लिखते गए यह शैली अधिकाधिक परिमार्जित तथा सरल होती गई। विगत सत्रह वर्षों में होने वाले राजनीतिक आँदोलनों, परिवर्तनों तथा सांस्कृतिक प्रवाहों का भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा विचार-शैली पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा है यह एक सोचने और समझने की वस्तु है।

प्रेमचंदजी में प्रतिभा थी और उसी के फलस्वरूप उन्होंने उर्दू साहित्य में अपना स्थान बना लिया था। जो सफलता उन्हें 'सेवासदन' के लेखक की हैसियत से प्राप्त हुई थी, उसे देखते हुए

यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में भी उन्हें उच्च स्थान अवश्य प्राप्त हो जाता। किन्तु जो अद्वितीय सफलता उन्हें प्राप्त हुई है वह प्रधानतया इन्हीं राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रवाहों का परिणाम है; उन्हीं की विवेचना करता, उनको कार्यरूप में परिणत करता हुआ, वह कलाकार जन-समाज का, उठते हुए भारत तथा विकसित होती हुई हिन्दी का, मार्ग-प्रदर्शक एवं उस नवयुग का सच्चा प्रतिनिधि बन गया। अपनी भाषा और शैली द्वारा हिन्दी भाषा-भाषियों का नहीं किन्तु उर्दू भाषा-भाषियों का भी प्रतिनिधि एवं दोनों के साहित्य तथा संस्कृति का वह उत्तराधिकारी बना।

× × ×

'रंगभूमि' के गुण-दोषों की विवेचना करने के लिए यह कोई उपयुक्त स्थान नहीं है, परन्तु यह अत्युक्ति न होगी कि जितना महत्त्व इस पुस्तक का प्रेमचंदजी के विरोधियों ने बढ़ाया, उतना शायद उनके समर्थक एवं प्यारे मित्रों ने भी नहीं समझा। 'रंगभूमि' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य में एक नए हड़कम्प के आगम की सूचना थी।

अगले चार बरस प्रेमचंदजी के उपन्यासों की कड़ी समालोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं के थे। 'रंगभूमि' के साथ-ही-साथ 'प्रेमाश्रम' की भी काट-छाँट शुरू हुई और श्रीयुत अवध उपाध्याय ने इन दोनों उपन्यासों के पात्रों के चरित्रों को गणित के सूत्रों में परिणत कर यह साबित करने का प्रयत्न किया कि

वे सब यूरोपीय उपन्यासों में आए हुए पात्रों के भारतीय संस्करण-मात्र हैं। मौलिकता की माँग बहुत जोरों से बढ़ी और उसके नाम पर बहुत धाँधली मची। जोशी बन्धुओं ने प्रेमचंदजी की प्रतिभा को अस्वीकार किया था और छोटे भाई इलाचन्द्र ने भी एक लेख लिखा, जिसमें प्रेमचंदजी की कला तथा उनके उपन्यासों पर अनेकों आक्षेप किये गए थे। उनके इन दोनों उपन्यासों की थेकरे की 'वेनिटी फ़ेअर' तथा टाल्सटाय के 'रिज़रेक्शन' (पुनर्जन्म) की नक़ल या उनका भारतीय संविधान-मात्र बताया गया। परन्तु प्याज़ के छिलके निकलते गए और इन सबका कोई परिणाम नहीं निकला। कुछ दिनों तक मौलिकता की खोज का बाजार गर्म रहा; हिन्दी-साहित्य-संसार में धूम-धड़ाका बहुत हुआ। प्रेमचंदजी के साथ-ही-साथ इस समय दूसरे भी कितने ही लेखकों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। एक निश्चित परिणाम यह अवश्य हुआ कि प्रेमचंदजी मंगला-प्रसाद-पारितोषिक न पा सके; इस साल भी उनकी पुस्तकों की कोई क़दर न हुई। हिन्दी-साहित्यिक उस कलाकार की कृतियों के अमरत्व को ठीक-ठीक कूत न सके; उनकी प्रतिभा, उनकी सेवा और उनके त्याग का ठीक-ठीक आदर नहीं हो पाया।

किन्तु इस सारे तूफान ने प्रेमचंदजी के साहित्यिक जीवन को विशेष प्रभावित नहीं किया। एक बार अवश्य आलोचना की तीव्रता तथा उसकी बढ़ती हुई मात्रा से तिलमिलाकर उन सबका

उत्तर देने का उन्होंने प्रयत्न किया था, किन्तु साथ ही उपन्यास और गल्प-लेखन का कार्य अबाध गति से चलता ही रहा। 'रङ्ग-भूमि' के निर्माता अब 'कायाकल्प' की सृष्टि करने में लगे थे। इस बार अँग्रेजी भाषा की सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका मेरी कारेली के समान ही उन्होंने भी जीवनातीत विषय पर कलम चलाई। 'कायाकल्प' में उन्होंने वैज्ञानिक भविष्य की कल्पना की और प्रेमचंदजी ने शायद प्रथम बार पुनर्जन्म की भी चर्चा की। मुंशी वज्रधर के चरित्र का सफलतापूर्वक चित्रण कर उन्होंने औपन्यासिक पात्रों की चित्रशाला में एक और अजर-अमर व्यक्ति समुपस्थित किया। यह उपन्यास अपने ढंग का एक ही है। इसमें लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या तथा ग्राम्य-जीवन की पहेली पर बहुत-कुछ प्रकाश डाला है और उनको सुलझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न भी किया है।

और जब यह नया उपन्यास छपकर निकला तब तक प्रेम-चंद एक महान् उपन्यासकार बन चुके थे। 'रङ्गभूमि' को पढ़कर अब 'कायाकल्प' के लिए बड़ी जोरों से प्रतीक्षा हुई। प्रकाशित होते ही पुस्तक हाथ लगी और एक साँस में पढ़ गया, परन्तु जहाँ से प्रेमचंदजी ने पुनर्जन्म की समस्या को लिया वह भाग कुछ रुचा नहीं; वह खण्ड पूरा-पूरा समझ में भी नहीं आया। मेरी कारेली के जो-जो उपन्यास पढ़े हैं, उनमें भी जिन-जिनमें इस प्रकार के अन्त का प्रयत्न किया है उन उपन्यासों के वे भाग कभी भी मुझे पसन्द नहीं आए। यह अपनी-अपनी रुचि है;

संभव है कई पाठकों को यह विशेषतया अत्यधिक रुचे, परन्तु मुझे तो ये कल्पनातीत बातें, उनका आगे रह सकने वाला स्थायी सम्बन्ध ज़रा मुश्किल से ही समझ में आता है। मृत्यु और पुनर्जन्म की ये अनबूझ पहेलियाँ अभी तक हल नहीं हो पाई हैं, वे दर्शनशास्त्र, साधना और वेदान्त के विषय हैं, एवं एक उपन्यासकार का उनको हल करने का प्रयत्न करना कुछ उचित नहीं जान पड़ता, और विशेषतया उस देश में जहाँ इस विषय पर पूर्णतया विभिन्न मत हैं, जहाँ यह विषय धर्म के अंतर्गत लिया जाता है और खास करके जहाँ परलोक की बात सोचते-सोचते ही इह-लोक को खो बैठे हैं तथा अनजाने इस लोक को भी नष्ट कर रहे हैं। पुनः यह कहना पूर्णतया ठीक न होगा कि पुनर्जन्म संबंधी बातों की विवेचना करने की प्रवृत्ति यूरोपीय लेखकों के प्रभाव का परिणाम थी। भारतीय साहित्य में भी जातकों की कथाओं में इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं और यह सोचना कि प्रेमचंदजी जातकों के विषय तथा उनकी कहानियों से अनभिज्ञ थे, उनके विषय में बहुत बड़ा अन्याय करना होगा।

इस समय जब कि 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' की सृष्टि हुई और क्रमशः प्रकाशित हुए, प्रेम द्वादशी, प्रेम-प्रतिमा, प्रेम-पचीसी और प्रेमप्रमोद क्रमशः निकले। इन सब संग्रहों में प्रेमचन्द जी की अनेकों ऐसी अमर कहानियाँ संग्रहीत हैं, जो उनको संसार के कहानी-साहित्यकारों में बहुत उच्च स्थान प्रदान

करेंगी। यह सत्य है कि प्रेमचन्दजी ने अनेकानेक बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे, किन्तु उससे भी अधिक सत्य यह है कि उन्होंने कई कहानियाँ ऐसी लिखी हैं जिनकी टक्कर की कहानियाँ विश्व-साहित्य में भी ढूँढ़े शायद ही मिलें। प्रेमचन्दजी के उपन्यास भारतीय साहित्य की एक अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि वे भी कितने ही स्थानों पर मानवीय हृदय तथा उसके भावों की उन चिरन्तन समस्याओं पर विचार करते हैं जिनकी पूरी विवेचना ही उस कृति को विश्व-साहित्य की वस्तु बना देती है, परन्तु फिर भी प्रेमचन्दजी के उपन्यास में इस विवेचना को गौण स्थान प्राप्त है। उनके उपन्यास भारतीय राष्ट्र, समाज तथा संस्कृति को लेकर चलते हैं, उन्हीं की विवेचना करते हैं, उन्हीं को सुलझाने का भी प्रयत्न करते हैं। ये सब समस्याएँ शताब्दियों से अब तक भारत में बिना सुलझी ही रही हैं, पुरानी होते हुए भी, ये भारत की अपनी ही वस्तु हैं। एवं प्रेमचन्दजी के उपन्यास विश्व-साहित्य की वस्तु नहीं बन सकते, कम-से-कम मेरा तो यही मत है। किन्तु इसके विपरीत प्रेमचन्दजी की कहानियाँ विश्व-साहित्य की एक स्थायी सम्पत्ति रहेंगी। स्थान-विशेष की विशेषताओं को छोड़ते हुए वे उन्हीं बातों की विवेचना करती हैं जो प्रायः समस्त संसार में एक-सी हैं। विश्व-वेदना का स्वर उनमें विद्यमान है। भविष्य में जब विश्व-साहित्य में प्रेमचन्दजी का स्थान निश्चित किया जायगा तब केवल इन्हीं महान् अमर कहानियों के ही आधार पर होगा। आज एक बहुत बड़ी

आवश्यकता इस बात की है कि प्रेमचन्दजी की सैकड़ों कहानियों में उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों का एक विशद संग्रह प्रकाशित किया जावे और संग्रह के प्रारम्भ में हो प्रेमचन्दजी की कहानी-लेखन-कला की एक विस्तृत आलोचना। आज वह कलाकार मृत्यु के कराल गाल में जा चुका है, उसका भौतिक शरीर नष्ट हो गया, परन्तु उसकी अमर आत्मा आज भी उसकी कृतियों में विद्यमान है, परन्तु उसकी वे अनमोल रचनाएँ आज यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं; उनको चुन-चुन कर ठीक सजाए बिना उस कलाकार की पूर्ण प्रतिभा का समूचा स्वरूप देखने को नहीं मिलेगा। और अगर कल इसके अभाव से प्रेमचन्दजी को विश्व-साहित्य में उचित स्थान नहीं दिया गया तो यह प्रेमचन्दजी के लिए नहीं, किन्तु हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए भी बड़ी लज्जा-जनक बात होगी; उस कलाकार का अनादर भारत की राष्ट्र-भाषा का अनादर होगा और अगर हमारी सुस्ती या उदासीनता के कारण हमारे राष्ट्र और साहित्य को इस अनादर का सामना करना पड़ा तो हम किस तरह संसार को अपना मुँह दिखाएँगे ?

× × ×

'कायाकल्प' को लिख चुकने के बाद प्रेमचन्दजी ने कुछ वर्षों तक कोई उपन्यास हाथ में नहीं लिया। वे शायद कुछ सुस्ता रहे थे। तीन बृहद् राजनीतिक उपन्यास लिख चुकने के बाद अब वे पुनः सामाजिक प्रश्नों की ओर झुके। सन् २१ का राजनीतिक आन्दोलन समाप्त हो चुका था, और इस समय भारत

के राजनीतिक वातावरण में एक प्रकार का सन्नाटा-सा छाया हुआ था, एवं राजनीतिक प्रश्नों पर प्रेमचन्दजी कोई नवीन स्फूर्ति न पा सके। इन अगले २-३ वर्षों में उन्होंने दो छोटे-छोटे सामाजिक उपन्यास लिखे जो एक के बाद दूसरा यों क्रमशः 'चाँद' में प्रकाशित हुए। पहला उपन्यास 'निर्मला' था जो 'चाँद' में पूरा छपते ही चाँद-प्रेस द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया गया था। यद्यपि यह किसी भी प्रकार 'सेवासदन' की समता नहीं कर सकता था, अपने संकुचित क्षेत्र में यह उपन्यास बहुत ही करुणापूर्ण ढंग से समाज की कुरीतियों के दुष्परिणामों की विवेचना करता है।

दूसरा छोटा उपन्यास था 'प्रतिज्ञा।' यद्यपि यह ग्रन्थ कुछ पहिले 'चाँद' में क्रमशः करके पूरा छप गया था किन्तु जब तक सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी द्वारा पुस्तकाकार नहीं छापा गया मैं उसे नहीं पढ़ पाया। मेरी कुछ ऐसी बुरी आदत है कि एक बार कहीं कोई पुस्तक पढ़नी आरम्भ कर दी तो उसको समाप्त करने की उतावली लग जाती है, और मासिक पत्रों में क्रमशः निकलने वाले उपन्यासों के विभिन्न भागों के पढ़ने में जो महीनों की देरी होती है, वह सहन नहीं होती है; उतने काल बाट देखना एक असम्भव अनहोनी बात है। पुनः उस महीने भर में बहुत कुछ पुराना भाग भी भूला जा चुका होता है, कथा के पुराने सूत्र ही अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, पढ़ने में भी बिलकुल मज़ा नहीं आता है; एवं जब तक या तो सारा उपन्यास नहीं छप

जाता है या उसको पुस्तकाकार में छपा न देख पाऊं ऐसे उपन्यास नहीं पढ़ सकता। एकाध बार प्रयत्न भी किया किन्तु दो-एक मास से ज्यादा यों पढ़ न सका। एवं पुस्तकाकार 'प्रतिज्ञा' को पढ़ने बैठा। कुछ प्रारम्भिक अध्याय पढ़ गया और प्रत्येक पृष्ठ के साथ ही यह भावना दृढ़तर होती गई कि ऐसा-का-ऐसा ही प्लाट तथा इसी प्रकार की विचार-शैली किसी दूसरे उपन्यास में भी पहिले पढ़ी है। एकाएक ध्यान आया कि शायद 'प्रेमा' नामक एक उपन्यास से ही 'प्रतिज्ञा' के प्लाट का साम्य है। 'प्रेमा' को शायद सन् १६२०-२१ में पढ़ा था; उसकी थोड़ी-थोड़ी-सी स्मृति बाक़ी थी। परन्तु जब पुस्तक ढूँढने बैठा तो वह न मिली। अवश्य ही वह किसी उपन्यास-प्रेमी द्वारा पठनार्थ माँगी जाकर कभी भी नहीं लौटाई गई थी; या तो वे स्वयं उसको दबा बैठे थे या अपने ऐसे ही ही किसी अनन्य प्रेमी मित्र को देकर बाद पुनः याद रखकर उसे माँगने का कष्ठ न उठाकर उसे लौटने की वृथा चिन्ता को अपने मस्तिष्क में उन्होंने घुसने नहीं दिया था। खैर, 'प्रतिज्ञा' को पढ़ता जाता था और मेरी समस्या अधिकाधिक विकट होती जाती थी। इतना स्मरण था कि 'प्रेमा' के लेखक प्रेम-चन्दजी न थे, कम-से-कम इस नाम से उन्होंने वह पुस्तक प्रकाशित न की थी। एवं उस समय जब कि मौलिकता की माँग बड़े ज़ोरों से बढ़ रही थी, जब प्रेमचन्दजी पर साहित्यिक डाकों या चोरियों के अनेकों अभियोग लग चुके थे, स्वभावतः

मुझे भी यह सन्देह होने लगा कि कहीं 'प्रतिज्ञा' लिखने में प्रेमचन्दजी सचमुच ही ऐसी चोरी तो नहीं कर बैठे। 'प्रेमा' की प्रति नहीं मिल रही थी और मेरी शंकाएं अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जाती थीं। एवं जब यह विश्वास हो गया कि 'प्रेमा' की प्रति न मिलेगी तब तो दिल की बेचैनी बढ़ने लगी; और अन्त में जब रहा न गया तो प्रेमचन्दजी को एक लम्बा ख़त लिखा। ख़त में 'प्रेमा' के कथानक से साम्य का उल्लेख करके उनसे यह पूछा कि आखिर यह सारा मामला क्या है। प्रेमचन्दजी ने जल्द ही उस खत का उत्तर दे दिया; उनका उत्तर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट था। वह पत्र मेरे सामने नहीं है (वह सुरक्षित अवश्य रखा हुआ है); फिर भी प्रेमचन्द के उत्तर को भूला नहीं हूँ। उन्होंने लिखा था कि 'प्रेमा' भी उन्हीं की कृति थी, और जब वह छपी थी उस समय उन्होंने दूसरा कोई नाम दिया था। लिखते-लिखते वे लिख बैठे कि जब 'प्रेमा' लिखी थी तब जवानी का जोश था; कुछ कर गुज़रने की उमंग थी, विधवा-विवाह और समाज-सुधार के प्रचार की पूरी-पूरी इच्छा थी, और उसी कारण उन्हीं भावनाओं के फलस्वरूप उसका वह कथानक बन गया था किन्तु बाद में अनुभव एवं अवस्था के बढ़ने के साथ वह जोश ठण्डा हो चला था, वे भावनाएं एकांगी न रह गई थीं और अब उनमें वह प्रारम्भिक तीव्रता भी न रहने पाई थी। 'प्रतिज्ञा' के कथानक को इन्हीं भावनाओं के अनुकूल तथा नवीन अनुभूतियों तथा विश्वासों के फलस्वरूप परिवर्तित

कर दिया था। सन् १६०५ के प्रेमचन्दजी और सन् १६२७-२८ के प्रेमचन्दजी में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं यह जानने को 'प्रेमा' के साथ 'प्रतिज्ञा' की तुलना करने की इच्छा हुई। अपनी 'प्रेमा' की प्रति खो चुका था, और उसकी प्रतियाँ अब अप्राप्य हो गई थीं। सम्भव है कि हिन्दी पुस्तकालयों में खोज की जावे तो 'प्रेमा' की एकाध प्रति मिल जावे, परन्तु अब तक मैंने इसका कष्ट नहीं उठाया। प्रेमचन्दजी के उपरोक्त पत्र को पाकर सन्तोष हुआ, परन्तु साथ ही अपने अविश्वास को लेकर स्वयं के प्रति एक तीव्र ग्लानि भी हुई। उस महान् कलाकार के लिए ऐसे सन्देहों को हृदय में स्थान देकर उनके प्रति अनजाने जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित्त मैं अब तक नहीं कर सका; किस प्रकार उस पाप का प्रायश्चित्त हो सकेगा यह प्रश्न मैं अब तक हल नहीं कर सका हूँ।

× × ×

इधर जब ये उपन्यास प्रकाशित हो रहे थे तब आपसी झगड़े के फलस्वरूप 'माधुरी' के आदि सम्पादक-द्वय हिन्दी के मासिक साहित्य में क्रान्ति करने वाले, श्रीयुत दुलारेलालजी भार्गव और पं० रूपनारायणजी पाण्डेय ने 'माधुरी' को छोड़कर हिन्दी साहित्य को 'सुधा' पिलाने की सोची। 'माधुरी' अब दूसरे सम्पादकों के हाथ में जाने वाली थी। इसी परिवर्तन युग में सीतामऊ के हाईस्कूल के हिन्दी-अध्यापक बनवारीलालजी 'विशारद' ने 'माधुरी' को एक लेख भेजा था। उस लेख की

स्वीकृति में जो चिट्ठी आई उस पर किसी 'धनपतराय' नामक सज्जन ने 'माधुरी' सम्पादक की हैसियत से हस्ताक्षर किये थे। यह ज्ञात हो चुका था कि 'माधुरी' के सम्पादकों की बदली हो रही है, परन्तु भविष्य में कौन साहित्यिक 'माधुरी' का भार उठाएँगे यह मालूम न हुआ था। एवं 'धनपतराय' जैसे अज्ञात नाम को 'माधुरी' के सम्पादकत्व से सम्बद्ध देखकर हम सब चकराए, खूब चकराए। यह नवीन साहित्यिक एकाएक कहाँ से आ टपका? अब तक उसका नाम भी तो कहीं पढ़ा या सुना न था, एकाएक उसे कैसे 'माधुरी' का सम्पादक बना दिया? उस समय आजकल की तरह अँग्रेजी अखबारों में न तो हिन्दी साहित्य की कोई खबर छपती थी और न हिन्दी साहित्यिकों की ही; हिन्दी दैनिक और साप्ताहिकों में भी कहीं भूले-भटके कोई समाचार छप जाता था। एवं जब तक 'माधुरी' का नया अंक नहीं आया, यह ज्ञात नहीं हुआ कि कौन महानु-भाव 'माधुरी' के नये सम्पादक बनाये गए हैं। हाँ, उस पत्र द्वारा किसी 'धनपतराय' के सम्पादक बनने की अनोखी खबर का बड़ा महत्त्व बना रहा, किन्तु ज्यों ही माधुरी का नया अंक आया हम लोगों की दिल्लगी शुरू हो गई। श्रीयुत कृष्णबिहारी मिश्र और श्रीयुत मुन्शी प्रेमचन्दजी का नाम सम्पादकों के स्थान पर छपा था, 'धनपतराय' का नाम नदारद था। उस समय तो यह सोचकर मन समझा लिया कि 'धनपतराय' नामक व्यक्ति 'माधुरी' के कार्यालय में निम्नश्रेणी के कर्मचारी

होंगे जो नए सम्पादकों की नियुक्ति तक स्थानापन्न सम्पादक रहे। कई बरसों के बाद ज्ञात हुआ कि 'धनपतराय' तो प्रेमचन्दजी का ही असली नाम है, और यों उस लेख की स्वीकृति पर हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक प्रेमचन्दजी ने ही हस्ताक्षर किये थे। हमारे महान् साहित्यिकों के निजी जीवन के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान कितना बढ़ा हुआ है ? जिनकी आत्मा को हम उनकी कृतियों में स्पष्टरूपेण देख सकते हैं, जिनके भावों को उनकी भाषा और लिखी हुई पंक्तियों में बिखरा पाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के भौतिक स्वरूप तथा उनके भौतिक जीवन के सम्बन्ध में कितना अज्ञान रहने दिया जाता है। या यों कहिए कि कितनी उपेक्षा, उदासीनता दिखाई जाती है, इसका इससे अधिक स्पष्ट दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा। किस प्रकार कविरत्न सत्यनारायणजी को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पण्डाल में जाने के लिए कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं, वह ऐसी ही उदासीनता का दूसरा उदाहरण था। जिस लेखक की एक-एक कृति को ढूँढ़ते हैं, उनके नाम याद करते हैं, जिनके प्रधान पात्रों के चरित्रों को ध्यानपूर्वक अध्ययन किया, उन्हीं उपन्यासों के लेखक उन्हीं अजर-अमर पात्रों के स्रष्टा प्रेमचन्दजी के बारे में इतनी-सी बात भी हम न जान पाये कि उनका असली नाम दूसरा ही कोई है, प्रेमचन्द नहीं। प्रेमचन्दजी की सूरत से भी तो हिन्दी साहित्यिक पहिली बार तब परिचित हुए जब उनकी एक धुँधली-सी तस्वीर 'रंगभूमि' में प्रकाशित हुई थी।

और इन्हीं दिनों जब प्रेमचन्दजी 'माधुरी' का सम्पादकत्व कर रहे थे तब जो मनोरञ्जक घटना घटी थी उसको याद कर आज भी पेट में बल पड़ जाते हैं। गम्भीर सामाजिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार करनेवाले, विश्व-वेदना की करुण-ध्वनि गुञ्जानेवाले प्रेमचन्दजी जी भरकर हँसाते भी थे। सं० १९८४ (सन १९२७-२८ ई०) के पौष मास की 'माधुरी' में उन्होंने 'मोटेराम शास्त्री' नामक एक हास्यरस-पूर्ण कहानी लिखी थी। उस कहानी को लेकर जो मुकद्दमेबाज़ी लखनऊ में हुई वह एक खेदजनक बात थी, परन्तु उसी समय जब 'मोटेराम शास्त्री' शीर्षक उस कहानी की मुद्रित प्रतिलिपियाँ एक-एक पैसे में लखनऊ में बिकीं और जब उस सुरम्य नगरी के चौराहों पर अख़बार बेचनेवाले छोकरों ने 'मोटेराम शास्त्री एक पैसे में, एक पैसे में' की आवाज़ें लगाईं तब तो हज़ारों प्रतियाँ इस तेज़ी के साथ बिक गईं कि उसको याद कर आज भी अच्छे-अच्छे प्रकाशकों के मुँह में पानी आ जाता है।

प्रेमचन्दजी ने हास्यरस-पूर्ण कहानियाँ अनेकों लिखी हैं और जहाँ तक स्मरण होता है 'मोटेराम शास्त्री' को लेकर ही कुछ गल्पों की सृष्टि हुई थी। ऐसी कहानियाँ लिखने में वे कमाल करते थे और उनके प्रशंसक उनकी हास्यरस-पूर्ण कहानियों का एक अलग संग्रह देखना चाहते हैं। 'मोटेराम शास्त्री' नाम से ही तत्सम्बन्धी गल्पों का एक छोटा संग्रह बन भी सकता है।

प्रेमचन्दजी स्वयं जी खोलकर हँसते थे और अपने साथियों

को भी उसी प्रकार हँसाते थे। उनके कहकहे अभी उनके साथियों को भूले नहीं हैं। अगर उनकी कोई कृतियाँ उनके पाठकों को हँसा सकेंगी, कुछ काल के लिए उन्हें उनके दुख-दर्द भुलाने में सहायक होंगी तो अवश्य उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी। प्रेमचन्दजी के जीवन के इस पहलू की पूरी-पूरी विवेचना होनी चाहिए; इस पर प्रकाश पड़े बिना उस कलाकार का पूरा व्यक्तित्व समझ में नहीं आ सकेगा। क्योंकर मनुष्य कठिनाई पर कठिनाई सहता चला जाता है, हँसकर उसका भार उठा लेता है, और अपने जीवन और जीवन की नवलता को बनाये रख सकता है; किस प्रकार वह हँसकर भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी नवीन स्फूर्ति का आह्वान कर सकता है, यह भारत के भावी साहित्यिकों के सोचने और समझने की बात है। यह एक खुला हुआ भेद है कि प्रेमचन्दजी ने जीवन-भर कभी भी आर्थिक दृष्टि से पूरा-पूरा सुख नहीं देखा, और जो कुछ कमाया वह उसी लेखनी की बदौलत, एवं वह भी उसी हिन्दी-साहित्य-देवता के चरणों में उन्होंने अर्पण कर दिया। परन्तु कहकहों के साथ ही उनके आर्थिक ताप का मान घट जाता था और वह कलाकार एक बार फिर स्फूर्ति पाकर कोई नई कहानी या उपन्यास लिखने में लग जाता था।

× × ×

किन्तु 'माधुरी' के सम्पादकत्व ने प्रेमचन्दजी की साहित्य-सेवा में किसी भी प्रकार की बाधा न डाली। उनकी कहानियों

की संख्या बराबर बढ़ती जा रही थी ; 'अग्नि-समाधि', 'पाँच फूल', 'प्रेमतीर्थ' आदि नये-नये गल्प-संग्रह निकल रहे थे। 'प्रेमद्वादशी' विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने वालों के लिए मनन करने की सामग्री बन गई। प्रेमचन्द जी हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माने जा चुके थे। विभिन्न लेखकों के जो-जो गल्प-संग्रह निकल रहे थे, उन सबमें उनको सर्वोच्च स्थान दिया जाने लगा था। परन्तु इसी समय सन् १९३०-३१ का वह युग आया जब एक बार फिर भारतव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन उठा ; भारतवर्ष में फिर राष्ट्रीय भावों का प्रवाह उमड़ पड़ा। प्रेमचन्दजी इस समय 'हंस' नामक एक गल्प-प्रधान साहित्यिक हिन्दी मासिक निकाल रहे थे। प्रेमचन्दजी स्वयं असहयोगी थे, राष्ट्रीयता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे अब 'हंस' में राजनीतिक कहानियाँ लिखने लगे जिनमें आन्दोलन सम्बन्धी भावनाओं या घटनाओं को कहानियों के कथानक के स्वरूप में बुन दिया था। इन राजनीतिक कहानियों का एक संग्रह 'समरयात्रा' के नाम से प्रकाशित भी हुआ था और शायद बाद में वह जब्त हो गया। प्रेमचंदजी अधिकाधिक तीव्र होते जा रहे थे। 'हंस' की सम्पादकीय टिप्पणियों से बहुत रोष टपकता था। राजनैतिक कारणों से ही 'हंस' को कुछ माल तक विश्राम भी लेना पड़ा था। प्रेमचंद के राजनैतिक उग्र विचार अन्त तक नरम नहीं हो पाए।

इसी काल में वे 'माधुरी' से भी छुट्टी पा चुके थे; 'हंस' भी विश्राम ले रहा था; प्रेमचंदजी स्वयं कुछ काल के लिए सिनेमा

की ओर झुक गए। 'सेवासदन' की फ़िल्म बनने जा रही थी; दूसरी फ़िल्म का भी कथानक लिखने का उन्होंने वादा किया था। सिनेमा-संसार में उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई और वे शीघ्र ही लौट आए। 'सेवासदन' की फिल्म निकली, एकाध दूसरी फिल्म बनवाकर उन्होंने काशी का रास्ता नापा। किन्तु बम्बई जाने से पहिले ही वे एक नया सामाजिक उपन्यास 'ग़बन' प्रेस में दे गए थे। 'ग़बन' का विज्ञापन देखकर एक प्रति भेजने के लिए लिख दिया था। 'ग़बन' को पाते ही पूरा पढ़ा और इस बार उसका पूरे ध्यान से अध्ययन भी किया। इस समय तक मैंने अन्य देशीय साहित्यिकों के कुछ ख़ास-ख़ास अच्छे-अच्छे उपन्यासों का, उनकी कला तथा विचार-शैली का थोड़ा-बहुत अध्ययन कर लिया था; कुछ-कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर चुका था। एवं ग़बन को समालोचक की दृष्टि से पढ़ा और उसी दृष्टिकोण से उस पर विचार किया। कहा जाता है कि इस उपन्यास का आधार प्रेमचंदजी के ही एक पुराने 'कृष्ण' नामक उर्दू उपन्यास का कथानक है। मैंने कभी उर्दू नहीं पढ़ी एवं प्रेमचंदजी की उर्दू कृतियों से बिलकुल अपरिचित हूँ। किन्तु 'ग़बन' आज जिस स्वरूप में मेरे सम्मुख है उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि यह एक सुन्दर कृति है। इसके प्रारम्भिक भाग में मानवीय भावों तथा मनोवैज्ञानिक संघर्ष का बहुत ही अच्छा चित्र खींचा गया है। अन्तिम भाग में यह उपन्यास घटना-प्रधान हो गया है।

उस महान् राजनैतिक आंदोलन के युग में उस महान् कलाकार की लेखनी से एक सामाजिक उपन्यास की ही सृष्टि होना एक आश्चर्यजनक बात थी। परन्तु जब एक बरस बाद उनका अंतिम राजनैतिक उपन्यास 'कर्मभूमि' पाठकोंके सामने आया, तब ज्ञात हुआ कि भारत का युग-प्रतिनिधि राजनीति को पूर्णतया भुलाये न था। 'कर्मभूमि' में प्रधानतया सन् १९३०-३१ के राजनैतिक आंदोलनों का विवरण है। यद्यपि घटनाएं, कथानक व पात्र सब काल्पनिक ही हैं, किन्तु उसमें बहनेवाली विचार-धारा, पात्रों की कार्य-शैली, उनकी नीति तथा सारे उपन्यास की बैक-ग्राउण्ड सन् १९३१ के आंदोलन की है, इस विषय में कभी भी दो मत नहीं हो सकते। हरिजन आंदोलन की भी विवेचना इस उपन्यास में हो गई है। अपने ढंग का यह एक ही उपन्यास है; इसकी ठीक महत्ता आज हम जान नहीं सकते, भविष्य में ही इसका ठीक-ठीक निश्चय हो सकेगा। यह उपन्यास बहुत ही रोचक हो गया है और घटनाओं का प्राधान्य होते हुए भी इसमें पात्रों का व्यक्तित्व तथा उनकी मनोवैज्ञानिक विवेचना को किसी भी प्रकार गौण स्थान नहीं मिला है। 'रंगभूमि' का लेखक ही 'कर्मभूमि' की सृष्टि कर सकता था; किसी दूसरे के बूते की यह बात न थी।

इसी समय प्रेमचंदजी का अंतिम नाटक या प्रहसन 'प्रेम-की वेदी पर' निकला। इसी के साथ ही प्रेमचंदजी के पहिले दो नाटकों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। 'कर्बला'

और 'संग्राम' नामक दो नाटक बहुत पहिले निकल चुके थे। 'संग्राम' सन १९२२ में छपा था और उसका प्लाट सामाजिक था। 'कर्बला एक-दो साल बाद निकला और उसके कथानक का आधार मुसलमानों के इतिहास का वह चिर-प्रसिद्ध युद्ध तथा तत्परिणाम-स्वरूप होनेवाली वह अतीव हृदयद्रावक घटना थी, जिसको याद कर आज भी सब मुसलमान प्रतिवर्ष उसासें भरते हैं। परन्तु नाटककार के स्वरूप में प्रेमचंदजी को उपन्यास-लेखक की-सी सफलता नहीं मिली। वे स्वयं अपनी त्रुटि को जानते थे, एवं उन्होंने इस ओर विशेष प्रयत्न नहीं किया। 'प्रेम की वेदी पर' एक छोटा-सा नाटक या एक प्रकार से प्रहसन-मात्र है। उसे पढ़कर तो मैं खूब हँसा, जी भरकर हँसा; शायद राजनैतिक या सामाजिक समस्या को सुलझाते-सुलझाते प्रेमचंदजी को भी दिल-बहलाव की सूझी थी, और उसी उद्देश्य से उन्होंने यह प्रहसन लिखा था।

× × ×

प्रेमचंदजी की इतनी कृतियाँ पढ़कर, उनकी आत्मा से इतनी घनिष्ठता स्थापित कर उनसे मिलने को कौन उत्सुक न होगा। कोई सन् १९३० की बात है जब मुझे भी हिन्दी के गल्प-साहित्य का अध्ययन करने की सूझी थी, और उसी सम्बन्ध में अनेकानेक प्रतिष्ठित लेखकों से पत्र-व्यवहार भी किया था। उस समय मैंने सोचा कि एक बृहद् गल्प-संग्रह प्रकाशित करूँ, जिसके प्रारम्भ में हिन्दी-गल्प-साहित्य का

इतिहास हो, उसके विभिन्न स्कूलों की पूरी-पूरी विवेचना हो, उनके गुण-दोषों का पूर्ण उल्लेख हो। तदनन्तर एक-एक लेखक को लेकर उसका संक्षिप्त परिचय लिखा जावे, जिसमें उस लेखक की जीवनी के साथ-ही-साथ उसके गल्प-लेखन से सम्बद्ध अनेकानेक छोटी-छोटी परन्तु खास निजी बातें लिखी जावें। किस प्रकार लेखक ने अपनी पहली कहानी लिखी? 'किन-किन दूसरे लेखकों का उस पर प्रभाव पड़ा और किस प्रकार यह प्रभाव पड़ा? वह लेखक किस-किस गल्प को अपनी अच्छी कृति समझता है? आदि बातों की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर उनको मनोरंजक ढंग से लिखा जावे और यों लेखक के व्यक्तित्व तथा उसकी विचार-शैली से घनिष्ठता स्थापित की जावे; इस प्रकार बैक-ग्राउण्ड तैयार कर उस लेखक की कुछ चुनी हुई अच्छी-अच्छी गल्पें दी जावें। गल्पों का चुनाव इस दृष्टि से किया जावे कि लेखक की लेखन-शैली, उसके वर्णन के प्रधान विषयों तथा उनके विभिन्न पहलुओं का पूरा-पूरा दृश्य पाठक को देखने को मिल सके। इसी पुस्तक के सम्बन्ध में मैंने प्रेमचन्दजी को भी एक लंबा खत लिखा था। उसकी प्राप्ति स्वीकार करते हुए उन्होंने बाद में सुविधानुसार पूर्ण विस्तार के साथ उसका उत्तर देने का वादा किया था। सुस्ती के फलस्वरूप तथा अन्य दूसरे कारणों से न बाद में मैं उन्हें उस उत्तर के लिए याद दिला सका और न उन्हें ही खुद याद आई। खेद है कि आज तक भी मैं उस पुस्तक को तैयार करने में बिलकुल प्रयत्नशील

नहीं हो सका हूँ। अगर निकट भविष्य में कभी उसको हाथ में लूँ भी तो पहिला सवाल यही आवेगा कि प्रेमचन्दजी सम्बन्धी साहित्य क्योंकर और कहाँ से एकत्रित किया जावे। ऐसे महान् कलाकार का परिचय अधूरा रहना हिंदी साहित्यिकों के लिए एक बड़ी ही लज्जाजनक बात होगी।

यों पत्र द्वारा थोड़ा-सा नैकट्य स्थापित करके मैं उनको प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक हो गया। इंदौर में होने वाले २४वें अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में उनके सम्मिलित होने की ख़बर सुनकर बहुत खुशी हुई। मैं उस सम्मेलन में सम्मिलित होने जा रहा था, और यों उनसे मिलने की पूरी आशा थी, किंतु जल्द ही यह ख़बर सुनकर कि प्रेमचन्दजी इन्दौर न आवेंगे सारी खुशी ग़ायब हो गई और अन्य किसी स्थान में उनसे मिलने की आशा लगाये रहा। एक महीने के बाद ही सरगूजा से लौटते वक्त जब एक दिन के लिए बनारस चला गया था तब भी वहाँ उनसे मिलने का संयोग न हो पाया। मई महीने की उस भरी दोपहरी में जब श्रीयुत राय कृष्णदासजी को विश्राम लेने न दिया, तथा जब कविवर 'प्रसाद' जी को अपनी कुछ कविताएँ सुनाने के लिए बाध्य किया तब तो प्रेमचन्दजी से भी मिलने को जी ललचाया। परन्तु वे वहाँ न थे, अपने गाँव गये हुए थे और एकाध सप्ताह के बाद ही लौटने का उनका प्रोग्राम था। यों काशी पहुँचकर भी मेरी इच्छा पूरी न हो सकी; विधि का विधान ऐसा ही था कि यह इच्छा अतृप्त ही रह

जावे। मैं भविष्य के लिए बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर काशी से रवाना हुआ था; सोचा था कि कभी-न-कभी यह संयोग आवेगा ही, परन्तु वे सब इच्छाएँ मन की मन में ही रह गईं। उस महान् कलाकार के व्यक्तित्व को एक बार भी अपनी आँखों से न देख सकने का खेद मुझे जीवन भर रहेगा।

× × ×

इन्दौर का वह सम्मेलन बड़े ज़ोरों के साथ हुआ, परन्तु वह हिन्दी-जन समाज के सम्मुख एक बड़ी समस्या छोड़ गया। दूसरी बार महात्मा गांधी ने उस संस्था के अधिवेशन का सभापतित्व ग्रहण किया था और इस बार सम्मेलन ने हिन्दी-साहित्य को भारतीय साहित्य में परिणत करने की सोची। राष्ट्र-भाषा का साहित्य राष्ट्रीय साहित्य हो। जिस साहित्य में समस्त राष्ट्र की विभिन्न भावनाएँ, प्रगतियाँ तथा संस्कृतियों का सम्मिलन हो, ऐसे सर्वांगपूर्ण साहित्य के बिना कोई भाषा राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती; कम-से-कम उसका वह पद कभी अधिक काल के लिए स्थायी नहीं रह सकता। परन्तु हिन्दी के साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य बनाने में अनेकों बड़ी बाधाएँ हैं और इन्दौर के इस २४वें अधिवेशन में सम्मेलन ने प्रथम बार उन बाधाओं को हटाने तथा उन विकट समस्याओं को हल करने की सोची। हिन्दी भाषा के इतिहास में इन्दौर के दोनों सम्मेलन बड़े ही महत्त्व के हैं; दोनों ही उस भाषा के विकास तथा बढ़ते हुए महत्त्व की विशिष्ट अवस्थाएँ अंकित करते हैं; दोनों में और विशेषतया इस पिछले

सम्मेलन में किये गए निश्चयों का भारतीय संस्कृति और साहित्य के भविष्य पर कितना गहरा प्रभाव पड़ेगा इसका आज पूरा-पूरा अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता है। हिन्दी राष्ट्रभाषा होने जा रही है, एवं उसके भविष्य के साथ ही भारतीय संस्कृति का भविष्य बँध गया है। जहां इससे हिन्दी भाषा एवं साथ ही तद्भाषा-भाषियों का महत्त्व तथा गौरव बहुत बढ़ गया है, वहीं उन सबकी ज़िम्मेवारियाँ भी बढ़ती चली जा रही हैं। यह निश्चित है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप में हिन्दी अब केवल सूबा-हिंदी या हिंदी भाषा-भाषी प्रान्तों तक की संस्कृति की ही प्रतिनिधि न रह सकेगी; उसमें अब भारत के समस्त विभिन्न प्रान्तों की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का सम्मिलन होना अत्यावश्यक हो गया है। यों राष्ट्रभाषा बन कर आज हिंदी अपनी आन्तरिक एकता तथा अपनी सांस्कृतिक शुद्धता खो बैठी है। अब हिंदी भाषा केवल एक साहित्यिक, सामाजिक, प्रान्तीय या किसी विशिष्ट जनसमाज की रुचि या विरोध का ही विषय न रह गई है, किन्तु वह एक राष्ट्रीय समस्या बन गई है।

हिंदी भाषा अब राष्ट्र-भाषा बनने जा रही है और इसी कारण उसे अब सारे राष्ट्र के उपयुक्त बनना होगा; किन्तु इस कठोर राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सत्य को हिंदी साहित्यिकों ने अब तक पूर्णरूपेण नहीं समझा है। वे अभी तक इस भाषा को अपने ही प्रान्तीय तथा तदनुरूप संकुचित क्षेत्र के अनुकूल बनाये रखना चाहते हैं; वे केवल राष्ट्र-भाषा के साहित्यिक बनने का गौरव प्राप्त

करना चाहते हैं, किन्तु उसके फलस्वरूप उनसे चाहे गए त्याग तथा परिश्रम का भार उठाने के लिए वे तैयार नहीं है। हिन्दी का जो स्वरूप राष्ट्र-भाषा बनने जा रहा है, जो समस्त भारत को सर्वमान्य होगा उसे यदि हिंदी साहित्यिक हिन्दी स्वीकार न कर यदि वे उससे विभिन्न अपनी ही तूती बजावेंगे तो यह निश्चित समझना चाहिए कि उस प्रान्तीय हिंदी का भविष्य बिलकुल उज्ज्वल नहीं है। खड़ी-बोली के सामने ब्रजभाषा की जो दशा हुई, वही दशा राष्ट्रीय हिन्दी के सम्मुख इस प्रान्तीय हिंदी की भी होगी। भाषा वही जीवित रह सकती है जो जन-समाज द्वारा अंगीकृत की जावे और जिसके द्वारा जनसमाज के साथ संबंध स्थापित किया जा सके; इस सम्बन्ध-विच्छेद के साथ ही उस भाषा की मृत्यु भी अवश्यंभावी हो जाती है।

प्रेमचन्दजी राष्ट्रीय हिंदी की इस महान् समस्या को समझते थे, उसकी महत्ता का अनुभव करते थे और जानते थे कि ऐसे युग में हठधर्मी से काम न चलेगा। अधिक युक्तिसंगत तो यह बात होगी कि जो नवीन प्रगतियाँ आज हिंदी भाषा में उठ रही हैं, उनमें भाग लेकर उनको सुचारु रूप से नियंत्रित कर ठीक राह पर लगावें, और यों भाषा और भारत के भविष्य के लिए अपनी हठधर्मी को त्याग दें। इसी कारण जब इन्दौर के २४वें सम्मेलन के बाद भारतीय-साहित्य-परिषद् की नींव पड़ी तो उन्होंने उसमें पूरा-पूरा भाग लिया और जब उस संस्था को एक मासिक पत्र की आवश्यकता हुई तो अपना प्यारा 'हंस'

उसे देने से वे नहीं हिचके। उस नवीन प्रगति को उपयुक्त स्वरूप देने तथा भारतीय साहित्य की एकता की उठती हुई भावना को स्थायी स्वरूप प्रदान करने में प्रेमचन्दजी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की एकता का जो स्वरूप हमें प्रेमचन्दजी की भाषा तथा उनके विचारों में मिलता है, वही सांस्कृतिक एकता धीरे-धीरे फैलकर आज समस्त भारत को अपने अंचल में समेट लेने को चली है। यद्यपि इन पिछले दिनों में बीमारी के कारण प्रेमचन्दजी अधिक काम न कर सके, परंतु आज जो नया वृक्ष बढ़ रहा है, उसका बीज प्रेमचन्दजी की शैली, उनकी भावनाओं तथा उनकी कृतियों में निहित था। इसी कारण उन्होंने हिन्दुस्तानी एकेडेमी में भी पूरी-पूरी दिलचस्पी ली और उस काम में भी हाथ बँटाया। उन्होंने स्वयं उर्दू से "फ़िसाना आज़ाद" अंग्रेजी से "सिलास मारनर" एवं गाल्स-वर्दी के नाटकों, तथा फ्रांस के अनातोले फ्रांस के "थायस" नामक ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद किये।

परन्तु अब वे मर रहे थे। अजर-अमर पात्रों की सृष्टि करने-वाला, विश्व-वेदना को चिरन्तन स्थायी स्वरूप देनेवाला व्यक्ति भी केवल एक मर्त्य मानव ही होता है, यह कठोर सत्य हम कई बार भूल जाते हैं। अपने उन अन्तिम दिनों में प्रेम-चन्दजी ने अपनी कई कहानियों को "मानसरोवर" नामक संग्रह के दो मोटे-मोटे भागों में संग्रहीत किया था, और जब अपने उन अन्तिम महीनों में आपत्ति के मारे "हंस" ने उनका मुँह

ताका तो उन्होंने प्रेमपूर्वक उसे भी गले लगाया, उसे पूरा सहारा दिया। मृत्यु-दिवस की उन अन्तिम घड़ियों में भी प्रेमचन्दजी को भारतीय साहित्य तथा 'हंस' की ही फिक्र थी।

परन्तु अब मृत्यु निकट थी। अन्य साथी प्रेमी तथा साहित्यिक शायद न जान पाए हों, किन्तु उस कलाकार को उसका आभास मालूम हो गया था, अपने आराध्य-देव साहित्य देवता से विदा लेना चाहता था। अपने प्यारे पाठकों को उपयुक्त स्मृति और साहित्य-संसार के पण्डों—प्रकाशकों और समालोचकों—को वे उचित दान देना चाहते थे और चाहते थे कि वे अनजाने इस लोक से खिसक जावें। साहित्य के देवता के चरणों पर 'मानसरोवर' को ही चढ़ाकर उन्हें संतोष न हुआ, परन्तु क्या करते, विवश थे। अपने प्यारे पाठकों को वे स्मृति-स्वरूप 'हंस' प्रदान कर गए और उन पण्डों को दिया उन्होंने 'गोदान'। यों साहित्यिक 'गोदान' देकर वे चल बसे उस 'गोदान' के लिए अंजली चढ़ाने के लिए उस कलाकार ने अपना खून पानी करके बहाया।

दुर्भाग्य से 'गोदान' ही उनका अन्तिम उपन्यास हो गया और मरते हुए कलाकार के उस 'गोदान' के लिए दो शब्द लिखना···· नहीं; नहीं; घाव अभी बहुत ही हरा है। उस मृत साहित्यिक की अन्तिम घड़ियों की सुध आज भी उस घाव में यदा-कदा दर्द पैदा कर देती है। वह एक बहुत ही बुरी चोट थी, जो उसके प्रेमी, प्रशंसक तथा मित्रों ने ही नहीं खाई,

किन्तु उसने हिन्दी-साहित्य-संसार को भी आहत किया......
कब तक यह घाव हरा रहेगा ;यह कौन जानता है ? आज भी जब कभी उस कलाकार की याद आ जाती है, जब आलमारी में रखी हुई 'रंगभूमि', 'सेवासदन' आदि ग्रन्थों की उन मोटी जिल्दों पर के वे काले-काले अक्षर आँख फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखते हैं, दिल एक बार फिर तड़प उठता है और ओठ अनजाने 'सनेही जी' का यह पद कह उठते हैं—

"चाहिए था जिनको कि उम्रे जाविदानी
मिले फानी दुनिया में वही फानी हाय ! होगए ।
पत्थर को पानी करने का जिनमें था दम
ऐसी व्याधि आई वही पानी हाय ! होगए ।
मौत नागहानी से किसी का कुछ चारा नहीं
छोड़ा यह जहाँ, आजहानी हाय ! होगए ।
जिन प्रेमचन्द की कहानी चली घर-घर
वही प्रेमचन्दजी कहानी हाय ! होगए ।"

[मार्च, १९३७ ई०]

राजपूतों का उत्थान

राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह निरन्तर बहता जाता है, चिर काल से, वह बहता आया है और चिर काल तक वह बहता रहेगा। वह प्रवाह कभी भी बन्द नहीं हो सकता। राष्ट्रीय जीवन में समय समय पर नवीन बातें उठ खड़ी होती हैं और इन परिवर्तनों के फलस्वरूप उसमें नूतनता पैदा हो जाती है, और प्रवाह का मार्ग पर बदलता जाता है। इन्हीं कारणों से समय-समय पर राष्ट्र में नवीन जातियों का उद्भव, उनकी उन्नति, होती है और अनेकों का पतन तथा समूल नाश भी हो जाता है। यों प्रत्येक जाति का उत्थान तथा पतन राष्ट्रीय जीवन में होनेवाली घटनाओं, मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं तथा परिवर्तनों के कारण होता है। भिन्न-भिन्न जातियों के राष्ट्रीय जीवन में भिन्न-भिन्न निश्चित उद्देश्य रहे हैं और उन उद्देश्यों को परिपूर्ण करने ही के लिए जातियों का उत्थान होता है। ये निश्चित उद्देश्य, उद्भव के समय की दशा आदि अनेकों बातें ही उस जाति के आचार-विचार तथा उसके रीति-रिवाजों को एक प्रकार से स्थिर करती हैं। जिस दशा में वह जाति अपने उद्देश्यों को कार्य-रूप में परिणत करती है, उसका जातीय जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ता है। पुनः जिन जातियों का उद्‌भव किसी निश्चित

उद्देश्य से होता है, उनका पतन भी उस उद्देश्य के परिपूर्ण या विफल होने पर आप ही हो जाता है। क्योंकर विधि के विधान से ये अदृश्य परिवर्तन होते हैं, क्योंकर एकाएक जातियों का उत्थान होता है और बाद में वैसे ही वेग के साथ उनका पतन भी होता है, ये बड़ी ही मनोरंजक बातें हैं और इतिहास के प्रत्येक पाठक को स्पष्टतया दिखाई देती हैं। जैसे एक नदी के प्रभाव में से एक छोटी-सी धारा निकलकर दूसरे मार्ग को ग्रहण करती है और आगे इधर-उधर घूमती-घामती पुनः नदी में आ मिलती है, वैसे ही जातीय जीवन की धारा का उद्भव राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह से होता है और उसका कार्य पूर्ण हो जाने पर वह राष्ट्रीय जीवन में समाविष्ट हो जाती है। यह सत्य है कि पुनः समाविष्ट हो जाने पर राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह में जातीय जीवन का उतना महत्त्व नहीं रहता, किन्तु जिस समय जातीय जीवन का प्रभाव राष्ट्रीय जीवन से विलग, भिन्न-भिन्न मार्गों में होकर बहता है, उस समय उसका प्रवाह स्पष्टतया अमिट ही नहीं होता है, किन्तु बड़े महत्त्व का भी होता है। राष्ट्रीय जीवन के प्रति जातीय जीवन का कार्य इस प्रवाह से ही कूता जाता है और उसका महत्त्व भी इसी पर निर्भर रहता है। संसार के समस्त देशों में यही होता आया है। यूरोपीय इतिहास भिन्न-भिन्न देशों के निरन्तर उत्थान तथा पतन का किस्सा है। यूनान, रोम, स्पेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, इङ्गलैंड, जर्मनी आदि के उत्थान-पतन के विवरण से ही यूरोपीय इति-

ह्रास भरा है। भारतीय इतिहास भी इस नियम का अपवाद नहीं। राजपूतों का उत्थान भी राष्ट्रीय जीवन से निकला हुआ जातीय जीवन का एक प्रवाह-मात्र था। राष्ट्र की किसी आवश्यकता- विशेष को पूर्ण करने ही के लिए उनका उत्थान हुआ था। क्योंकर उनका उत्थान हुआ, और कैसे धीरे-धीरे उनका विकास हुआ इसी पर यहाँ विचार करेंगे।

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक लेखक पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख यह एक बड़ा प्रश्न उपस्थित हुआ था कि ये राजपूत कौन थे? इनका उद्गम कहाँ से हुआ था? ये कहाँ से आये थे? इन प्रश्नों का हल करने में उनके सम्मुख दो विकट कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। प्रथम तो यह कि बौद्धकाल से पहले ही 'क्षत्रिय' पाए जाते थे, बौद्धकालीन इतिहास में क्षत्रियों का उल्लेख नहीं आता है। पुनः उन दिनों राजपूतों का नाम नहीं मिलता। ईसा से कोई छः शताब्दी बाद से ही इतिहास में राजपूतों का उल्लेख मिलता है। अतः राजपूत तथा क्षत्रिय क्योंकर एक हो सकते हैं? दूसरी कठिनाई नाम की आती है। यद्यपि यह मान लिया जाय कि दोनों एक ही थे तो नाम में यह भेद क्यों पाया जाता है? बौद्धकाल से पहले 'क्षत्रिय' थे और बाद में 'राजपूत' पाए जाते हैं। अतः ऊपरी दृष्टि से विचार कर वे इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'क्षत्रिय' और 'राजपूत' दो विभिन्न जातियों के नाम हैं। दोनों में किसी प्रकार का संबंध नहीं था। इसी कारण उनका मत है कि यद्यपि राजपूत अपने को क्षत्रियों का

विधर्मियों के विरुद्ध हिन्दू-समाज ने अपने कपाट ही बन्द किये थे। इसीलिये कई क्षत्रिय, जो बौद्ध धर्मानुयायी हो गए थे, पुनः हिन्दू-धर्म की छत्रछाया में लौट आए। यही नहीं, किन्तु बाह्य आक्रमणकारियों में से भी अनेकों को क्षत्रियों ने अपने में मिला लिया था। यों हिन्दू-धर्म के उत्थान के साथ क्षत्रियों का भी पुनरुत्थान हुआ और हिन्दू समाज ने पुनः शक्ति ग्रहण की। नवीन जीवन तथा स्फूर्ति से पूर्ण यह क्षत्रिय जाति ही बाद में राजपूत कहलाई। पुनरुत्थान के इस काल में, ये नवीन राज्याधिपति, अपना महत्त्व स्थापित करने तथा प्राचीन क्षत्रिय राजाओं की समकक्षता के अपने पद की मान-मर्यादा बनाने के लिए अपने आपको 'राजपुत्र' कहने लगे, और धीरे-धीरे इसी 'राजपुत्र' का अपभ्रंश होकर 'राजपूत' शब्द बन गया।

धूमकेतु के समान एकाएक भारतीय आकाश में राजपूतों का उत्थान हुआ था। उनके उत्थान का क्रम बहुत दिनों से अदृश्यतया चला आ रहा था, किन्तु हर्ष की मृत्यु के अनंतर जब भारत पर अराजकता का अंधकार छा गया तब राजपूत एकाएक चमक उठे। उनके उत्थान का समय आ गया था। बौद्ध-धर्म का पतन हो रहा था; बुझते हुए दीपक की अंतिम ज्योति अन्तिम बार एकाएक चमककर अब धीरे-धीरे क्षीण होने लगी थी। इस धर्म का पुनरुत्थान करने वाला कोई न था, किन्तु इसके विपरीत हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किये जा रहे थे। इस उत्थान में राजपूत राजाओं का बड़ा हाथ

था। हिंदुओं के नेता बनकर ये सारे भारत को अपने हाथ में करने लगे थे जिससे धीरे-धीरे सारा भारत राजपूत राजाओं में बँट गया। इस प्रकार राजपूत हिंदुओं के नेता तथा रक्षक बने और अब दोनों का भाग्य अदृश्य बंधनों द्वारा बँधकर एक हो गया। हिंदुओं की आशा के एकमात्र आधार राजपूत ही थे और मध्यकाल तथा आधुनिक काल का इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक के उत्थान तथा पतन का प्रभाव दूसरे पर पूर्णतया पड़ता रहा; एक के जीवन में होने वाले परिवर्तनों की प्रतिछाया दूसरे पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है।

यों ७ वीं शताब्दी में राजपूत भारत के राजनीतिक रंगमंच पर अवतीर्ण हुए। युद्ध ही उनका जीवन था, युद्ध करने ही के लिए वे रंगभूमि पर आए थे। उनका पुनरुत्थान करने वाले, उनकी शक्ति बढ़ाने वाले तथा उन्हें पुनः उसी प्राचीन गौरवशाली पद पर स्थित करने वाले ब्राह्मण ही उनकी नीति आदि निश्चित करने लगे। ब्राह्मणों ने ही धीरे-धीरे राजपूतों के समाज का निर्माण किया। इन दिनों कुछ शताब्दियों से भारत पर कोई बाह्य आक्रमण नहीं हुए थे। अरबों ने सिंध को जीता था, किन्तु इस विजय का भारतीय समाज आदि पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि अरब सिंध को अधिक काल तक अपने अधीन नहीं रख सके। यों राजपूतों को अपनी शक्ति बढ़ाने तथा अपनी नीति आदि निश्चित करने का पूरा अवसर मिल गया। इसी काल में उनके कार्य के अनुरूप राजपूतों का समाज

एक नये ढांचे में ढल गया। उनके रीति-रिवाज, आचार-विचार निश्चित हो गए। तत्कालीन यूरोप के समान यहाँ भी तब जागीर-प्रथा का बोलबाला हो गया। यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि राजपूतों के पहले भारत में जागीर-प्रथा प्रचलित थी या नहीं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रथा का पूर्ण स्वरूप राजपूत-काल में ही विकास को प्राप्त हुआ था। इस प्रथा से राजपूतों को कई हानियाँ सहनी पड़ीं, किन्तु साथ ही इसी के कारण उन्हें कई लाभ भी हुए। मुसलमानों के आक्रमणों के भयंकर झोंकों को सहन करके भी राजपूत-जाति तथा समाज अपने स्थान पर बने रहे, इसका बहुत कुछ श्रेय इस जागीर-प्रथा को ही है।

अपने नवीन स्वरूप में राजपूत समाज ने आशातीत उन्नति की। उनका मुख्य कार्य युद्ध करना था। जब सारा भारत राजपूतों द्वारा जीता जा चुका, तब भिन्न-भिन्न राजवंश आपस में लड़ने लगे। समाज का संगठन भी सेना-प्रधान था, अतः आपसी युद्धों ने भीषण स्वरूप धारण किया। जिन-जिन में शक्ति थी उन्होंने निर्बलों को दबाया; जहाँ समान शक्तिशाली थे वहाँ यदा-कदा युद्ध होता ही रहता था। समय-समय पर भिन्न-भिन्न राजवंशों के भाग्य में हेर-फेर होता रहा, जिससे कभी एक का उत्थान हुआ तो कभी दूसरे का। इन आपसी युद्धों का भारत की आंतरिक दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इधर इन्हीं दिनों भारत पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होने लगे;

उनका सामना करने तथा उन्हें रोकने के लिए किये गए राजपूतों के सारे ही प्रयत्न विफल हुए। पराधीनता की घटा भारत पर छाने लगी। पंजाब को महमूद गजनवी ने जीत लिया था। दो शताब्दी बाद सारे उत्तरी भारत की बारी आई। सहस्रों वर्षों से जो भारत जगद्गुरु था, अब वह पराधीन होने वाला था। भारत का भाग्य-भानु, हिन्दुओं का स्वातन्त्र्य-सूर्य, ग्रसित होने को था। वही पुराना कुरुक्षेत्र था, पुन: राहु पूर्ण वेग से हिन्दुओं को ग्रसने के लिए दौड़ रहा था। अन्त में तरावड़ी का दूसरा युद्ध हुआ। राजपूतों के भाग्याकाश में अन्धकार छा गया। पृथ्वीराज और उसके साथी हारे ; हजारों राजपूत वीर खेत रहे; पृथ्वीराज भी मारा गया। दिल्ली और अजमेर के बाद कन्नौज भी मुसलमानों के हाथ में आया।

राजपूतों की स्वतन्त्रता सर्वदा के लिए नष्ट हो गई। किन्तु ग्रसितसूर्य में भी तेज तथा सौंदर्य पाया जाता है। खग्रास-सूर्य से भी आभा तथा तेज की लपटें निकली पड़ती हैं। परतन्त्रता से ग्रसित होने पर भी राजपूत जाति का मध्यकालीन इतिहास कई एक दृष्टियों से संसार के इतिहास में अद्वितीय है। राज-नीतिक दृष्टि से राजपूतों का तब तक का इतिहास पारस्परिक युद्धों से कलुषित था, किन्तु वे ही राजपूत अब अपनी स्वतंत्रता हरण करनेवाले मुसलमानों पर टूट पड़े। भारतीय सूर्य के जो पहले धब्बे थे वही अब उसके आभूषण हो गए। अब राजपूतों का स्वातन्त्र्य-युद्ध प्रारम्भ हुआ। अद्वितीय साहस के साथ,

जिसका सानी संसार के इतिहास में नहीं मिलता, राजपूतों ने मुसलमानों का सामना किया। यही कारण है कि राजस्थान की ही नहीं, किन्तु सारे उत्तर-पश्चिमी भारत की इंच-इंच पृथ्वी राजपूतों के रुधिर से सींची गई है। प्रत्येक मार्ग में पहले राज-पूत कट-कटकर गिरे हैं, हिन्दुओं तथा मुसलमानों के रुधिर की नदियाँ बही हैं और तभी मुसलमान आगे बढ़ सके हैं। इस वीर और कट्टर जाति ने क्षण-क्षण, इंच-इंच पृथ्वी के लिए, कट-कटकर खून बहा-बहाकर अपना अस्तित्व बनाये रखा है। ज्यों-ज्यों उनका रुधिर बहता था, त्यों-त्यों ही इस जाति के जीवन की अवधि बढ़ती जाती थी। यों यह जाति अद्भुत ढंग से जीवित रही है। इसके इस स्वातन्त्र्य-युद्ध की तुलना करने के लिए संसार के इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है।

पराधीन रहकर भी किसी आश्चर्यजनक रीति से इस जाति ने अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखी, इसका दूसरा नमूना ढूँढ़े नहीं मिलता। मानवजाति के इतिहास में राजस्थान ही एक नमूना है, जहाँ पराजित जाति ने अपने विजेताओं के अत्यधिक बर्बरता-पूर्ण अत्याचारों को सहन किया, किन्तु फिर भी अपना अस्तित्व नहीं मिटने दिया। जब झोंका आया तब उससे दब गए, किन्तु तुरन्त ही दुगुने साहस के साथ उठ खड़े हुए तथा दुःखों और विपत्तियों की सान पर उन्होंने अपनी साहस-रूपी तलवार की धार को तेज़ किया। संसार के इतिहास में कई उदाहरण

मिलते हैं जहाँ कि केवल एक युद्ध की हार-जीत पर ही सारे साम्राज्य के भाग्य का निर्णय हुआ है और एक बार पराधीनता की बेड़ी पड़ते ही पराधीन जाति ने विजेताओं के आचार-विचार पूर्णतया अपना लिये। किन्तु राजपूतों ने साम्राज्य खोया, पर अपना धर्म तथा अपने रीति-रिवाज नहीं छोड़े। अकेले मेवाड़ ही के हजारों राजपूतों तथा सहस्रों राजवंशियों का रुधिर स्वधर्म, स्वाधीनता तथा अपनी सभ्यता की रक्षा करने में बहा है।

जागीर-प्रथा के कारण राजपूतों के साम्राज्य के साम्राज्य छोटी-छोटी जागीरों में विभक्त हो गए थे। मुस्लिम आक्रमणों को ये साम्राज्य नहीं सह सके। राजपूत सम्राट् मारे गए और साम्राज्य नष्ट हुए। यह सत्य है कि राजपूतों के राष्ट्र सम्बन्धी विचार कुछ संकीर्ण हो गए थे, किन्तु फिर भी एक-एक इंच पृथ्वी लेने में मुसलमानों को उसके मालिक से लड़ना पड़ा था। यही कारण है कि यद्यपि मुसलमानों का साम्राज्य बहुत बढ़ गया था, तथापि उसकी नींव सुदृढ़ न थी; नाम-मात्र को शक्ति के ही आधार पर उनका साम्राज्य स्थिर था। समय के साथ ही धीरे-धीरे ये छोटी-छोटी जागीरें दबाई जा सकीं।

साम्राज्यों के विनष्ट होने पर स्वाधीनता के प्रेमी तथा उसके अनन्य उपासक राजपूतों ने गंगा का तीर छोड़ दिया; वे अब राजपूतों की दुरूह घाटियों, उजड़ मरुभूमि तथा बीहड़ वनों से पूर्ण आड़ावली की विकट पहाड़ियों में चले गए। कई गोंड़वाने में घुस पड़े। उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी अपनी स्व-

तंत्रता की रक्षा करनी थी। मुसलमानों ने उत्तरी मैदान जीत लिया, दोआब में निरंतर उठने वाले विद्रोहों को दबा दिया, किन्तु वे राजस्थान को नहीं हथिया सके। राजपूत स्वयं एक नये देश में आए थे, उधर मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति उनकी बाधक थी, किंतु फिर भी उन निर्जन वनों में पुनः मुसलमानों से मोरचा लेने के लिए तैयारियाँ की जा रही थीं। इधर मुसलमान बारम्बार राजपूतों को दबाने का प्रयत्न कर रहे थे। चित्तौड़ का किला इस बात का साक्षी है। वह आज भी संसार के सम्मुख राजपूतों के उस पुरातन स्वातंत्र्य-प्रेम का एक उज्ज्वल स्मारक है। यहाँ तीन बार स्वातंत्र्य-यज्ञ हुआ था। राजपूतनियों ने अपनी मान-रक्षा के लिए धधकती हुई चिता की तथा राजपूतों ने परतंत्रता से बचने के लिए तलवार की धार की शरण ली थी। ऐसे प्रथम यज्ञ की अंतिम आहूति से निकली हुई लाल लपटों की तथा उस यज्ञवेदी पर किये गए बलिदानों के रुधिर की धाराओं को बहते हुए अलाउद्दीन ख़िलजी ने अपनी आँखों देखा था। पद्मिनी के लिए लालायित अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का घेरा डाला था। चित्तौड़ के रक्षकों को किसी प्रकार भी बचने की आशा न थी। उन निराशापूर्ण दुर्दिनों में पद्मिनी तथा अन्य राजपूतनियों ने, अपने बच्चों के साथ, धधकती हुई चिता का आलोक देखा और वे हँसती-हँसती उसमें कूद पड़ीं। उस स्वातंत्र्य-प्रेम की पुनीत उज्ज्वल अग्नि को गले लगाकर वे उसी की लपटों में समा गईं; और राजपूतों ने? उन्होंने अपने शत्रुओं के स्वरूप में अपने

काल से साक्षात्कार किया और परतंत्रता की उमड़ती हुई कालिमा में अपने भावी जातीय दुर्भाग्य का प्रतिबिम्ब देखा। वे बाँके वीर उस दुर्दिन में वज्र की नाईं चमके और शत्रु की सेना पर कुलिश के समान टूट पड़े। हज़ारों का संहार हुआ, राजपूत मर-मिटे ; जौहर पूर्ण हुआ, चित्तौड़ मुसलमानों के हाथ में चला गया। प्राण गये, चित्तौड़ गया, पर मान नहीं गया, राजपूत मरते दम तक स्वतंत्र ही रहे और मरकर उन्होंने उस भावी पराधीनतापूर्ण जीवन की संभावना तक से छुटकारा पाया। स्वाधीनता ही राजपूत-जाति का धर्म रहा है। निरंतर युद्ध कर, लपलपाती हुई अग्नि में हज़ारों की आहूति देकर तथा स्वातंत्र्य-वेदी पर असंख्य बलिदान चढ़ाकर ही यह जाति जीवित रही है और इस प्रकार वह अपनी रक्षा कर सकी है।

किन्तु जब इधर फिरोज की मृत्यु के अनन्तर मुस्लिम साम्राज्य का पतन हुआ, देहली के साम्राज्य की सत्ता उठ गई, तब सारे भारत में पुनः राजपूतों ने जोर पकड़ा। एक बार फिर वे सारे भारत पर राज्य करने की सोचने लगे। राणा कुम्भा के समय से धीरे-धीरे वे शक्तिशाली होने लगे। महाराणा कुम्भा की शक्ति, कीर्ति, विद्वत्ता तथा राजपूतों के इस अस्थायी पुनरुत्थान का एकमात्र स्मारक है कुम्भा का वह अनोखा कीर्ति-स्तंभ। वह स्तम्भ चित्तौड़ के दुर्ग पर उसकी कलगी के समान सुशोभित है और संसार को यह बता रहा है कि एक समय मुसलमान बादशाहों को हराकर पुनः राजपूत हिन्दू-साम्राज्य

के निर्माण करने का स्वप्न देखने लगे थे। जब लोदियों ने देहली के सिंहासन को सुशोभित किया तब मुस्लिम साम्राज्य को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया था; किन्तु जागीर-प्रथा तथा धर्मान्धता ने देहली साम्राज्य की जड़ खोखली कर दी थी। लोदियों के प्रयत्न मृतप्राय जाति के निष्फल प्रयत्न मात्र थे। राणा साँगा के नेतृत्व में राजपूत-शक्ति का संगठन होने लगा। अपनी सेना बढ़ाने तथा देहली के साम्राज्य को नष्ट करने के लिए उन्होंने अफ़गानिस्तान के शासक बाबर से सन्धि करनी चाही। किन्तु बाबर एकछत्र राज्य करना चाहता था। भारत को देखकर उसके मुख से लार टपकी पड़ती थी। पानीपत का युद्ध हुआ; इब्राहीम हारा और खेत रहा। सन् १५२७ ई० में बाबर ने राजपूतों पर धावा किया। राणा पहले से ही सुसज्जित थे। खानवा में घोर युद्ध हुआ; किन्तु राजपूतों की जिस राजनीतिक अदूरदर्शिता, अहंकार, उदारता तथा कुलाभिमान ने अब तक उन्हें हराया था, वे उन्हें इस बार कैसे विजयी होने देता? राजपूतों की हार हुई और इस पराजय से राजपूतों का वह प्रताप, जो महाराणा कुम्भा के समय से बहुत बढ़ा-चढ़ा और इस समय तक अपने शिखर पर पहुँच चुका था, एकदम कम हो गया, जिससे भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति में राजपूतों का उच्च स्थान न रह सका। राजपूतों की शायद ही कोई ऐसी शाखा हो जिसके राजकीय परिवार में से कोई-न-कोई प्रसिद्ध व्यक्ति इस युद्ध में काम न आया हो। इस युद्ध का दूसरा परिणाम यह

हुआ कि मेवाड़ की प्रतिष्ठा और शक्ति के कारण राजपूतों का जो संगठन हुआ था, वह टूट गया। इसका तीसरा और अंतिम परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में मुगलों का राज्य स्थापित हो गया और बाबर स्थिर रूप से भारतवर्ष का बादशाह बना। यों यह खानवा का युद्ध राजपूत-जाति के इतिहास में तरावड़ी के दूसरे युद्ध तथा हल्दी घाटी की लड़ाई के समान ही बड़े महत्त्व का है। यद्यपि राजपूत-जाति ने अनगिनत योद्धा तथा असंख्य वीर पैदा किये हैं, किन्तु फिर भी पृथ्वीराज, राणासाँगा, प्रताप तथा दुर्गादास राजपूत-जाति के ही नहीं, भारतीय इतिहास के भी मुकुटमणि हैं।

सन् १५५६ ई० में भारत के सिंहासन पर राजपूत-जाति का अनन्य मित्र तथा उसके स्वातन्त्र्य का अनन्य शत्रु अकबर आरूढ़ हुआ। राजपूतों के स्वातन्त्र्य-युद्ध ने एक नूतन स्वरूप ग्रहण किया। उनमें अब कोई भी संगठन नहीं रह गया था, और अकबर ने उनके प्रति अपनी उन नवीन नीति का प्रयोग आरम्भ किया जिससे वह राजपूतों को अपना सहायक तथा मित्र बनाना चाहता था। वह उन्हें हराता था, किन्तु अधीनता स्वीकार कर लेने पर उनको उनका राज्य लौटा देता था और उनके साथ बड़ी ही उदारता का बर्ताव करता था। प्रायः सारे राजपूत राजघरानों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली; किन्तु हिन्दुओं की आशा, एक-मात्र चित्तौड़ के राणा पर अव-लंबित थी। उन्होंने पराधीनता स्वीकार नहीं की। सोने के

पिंजड़े में बन्द होना उन्हें ठीक न लगा। उदयसिंह इस समय चित्तौड़ के महाराणा थे और उनमें यद्यपि राजकीय गुणों का अभाव था, किन्तु फिर भी स्वातन्त्र्य-प्रेम उनमें कूट-कूट कर भरा था। सम्राट् अकबर ने चित्तौड़ पर धावा किया, घेरा डाला, उदयसिंह चित्तौड़ से पहिले ही निकल भागे और चित्तौड़ का दुर्ग जयमल और पत्ता के अधिकार में छोड़ गए। यह चित्तौड़ का तृतीय तथा अन्तिम घेरा था। उदयसिंह के जाने के साथ ही मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ से सर्वदा के लिए उठ गई। इधर एक दिन जयमल रात के समय अकबर के हाथों बन्दूक की गोली से मारा गया[1]। कोई बाहरी सहायता की आशा न थी। जौहर की तैयारियाँ हुई। स्त्रियाँ जल गईं और राजपूतों ने, जो कोई आठ हज़ार थे, केसरिया बाना पहना। चित्तौड़गढ़ के किवाड़ खुल गए। सारे वीर लड़ते-लड़ते मारे गए; पत्ता वीरतापूर्वक लड़ा और खेत रहा। कर्नल टाड लिखते हैं—"जयमल और पत्ता के नाम मेवाड़ के घर-घर में फैल गए और आजतक मेवाड़-निवासी उन्हें याद करते हैं। जब तक राजपूत-जाति में अपने पुरातन गौरव का नाम मात्र भी रहेगा और जब तक उस गौरवशाली भूतकाल की स्मृति रहेगी, तब तक उन्हें कोई भूल नहीं सकता।" चित्तौड़ ही सारे संसार के इतिहास में उन स्वातन्त्र्य-प्रेमी योद्धाओं की एक अतीत स्मृति

---

१. इस घटना के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। जो मत अधिक प्रचलित है, उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है।

है। हज़ारों वीर इस चित्तौड़ के लिए बलि हुए। राजधानी उठ गई, पुरातन गौरव नष्ट हो गया, किन्तु फिर भी आज वह पूजनीय है। राजपूत-जाति के इतिहास में यह दुर्ग एक अत्यंत प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए अनेक बार असिधारा-रूपी तीर्थ में स्नान किया और जहाँ अनेक राजपूत वीरांगनाओं ने सतीत्व रक्षा के निमित्त, धधकती हुई जौहर की अग्नि में, कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल-बच्चों सहित प्रवेश कर एक उच्च आदर्श उपस्थित किया जो चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिए नहीं, किन्तु प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी हिन्दू-संतान के लिए, क्षत्रिय-रुधिर से सिंची हुई यहाँ की भूमि के रजकण भी तीर्थ-रेणु के समान पवित्र हैं। संसार में चित्तौड़ के समान शायद ही ऐसा कोई स्थान हो जहाँ इतना रुधिर बहा हो, जहाँ स्वतन्त्रता देवी की वेदी पर इतनी स्त्रियों तथा पुरुषों का बलिदान हुआ हो। इसी कारण वे पुराने खण्डहर अपनी जीर्ण हीन दशा में भी आज हिन्दू जाति के लिए पूजनीय हैं। वह खण्डहर किला प्रत्येक हिन्दू के ही लिए नहीं, किन्तु प्रत्येक स्वातन्त्र्य-प्रेमी के लिए एक पवित्र तीर्थ है। वहाँ की रेणु का एक-एक कण भी इतना पवित्र है कि उसका सानी संसार में शायद ही मिले। वहाँ का एक-एक रेणु-कण रुधिर से पूर्ण है।

चित्तौड़ का पतन हुआ, हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ चला गया; पर उदयसिंह तथा मेवाड़ के बाँके राजपूत कहाँ झुकने वाले थे!

स्वतंत्रता ही उनकी आराध्य देवी थी और अब उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की उन्होंने आड़ावली की उन पहाड़ियों में उदयपुर नगर को बसाकर। उन दूर अज्ञात वनों में, दुरूह घाटियों में तथा आकर्षण-विहीन पहाड़ों में धीरे-धीरे राजपूतों का सूर्य निकल रहा था। उदयसिंह के बाद उसके स्थान पर राणा प्रताप गद्दी पर बैठा। प्रताप स्वतंत्रता का पुजारी, अपने कुल-गौरव का रक्षक एवं आत्माभिमान का अवतार था। उसने अधीनता स्वीकार करना तो दूर रहा, अकबर को कभी भी बादशाह नहीं कहा। वह राणा साँगा का सच्चा वंशज था। प्रताप को इस बात का पूरा पता था कि उसकी शक्ति कम है और उसके विरुद्ध उस प्रतापी अकबर के पास भारत का साम्राज्य ही नहीं, किन्तु सारे राजस्थान की सहायता भी है। फिर भी वह झुके क्यों? उस काल के इतिहास में एक ही साथ राजपूत-जाति के निकृष्ट-से-निकृष्ट तथा उच्च-से-उच्च दृश्य दिखाई देते हैं। एक ओर राजपूत राजा थे जो अकबर के दरबार में विलासपूर्ण जीवन बिताते थे, अधीनता स्वीकार करके उसके कृपा-पात्र बने थे, जिनके लिए कोई भी उच्चाधिकार या सांसारिक सुख अलभ्य न था। दूसरी ओर मुट्ठी-भर राजपूत थे जिनको दिन-भर में एक बार खाना भी नहीं मिलता था, जिनको निरंतर प्राणों का संकट रहता था, जो पृथ्वी पर खुली चट्टानों पर सोते थे, जिनकी कई रातें बिना नींद लिये बीत जाती थीं, जिनके बच्चों तथा स्त्रियों के रहने के लिए सुरक्षित स्थान भी न था; आज यहाँ तो कल

वहां; किन्तु फिर भी वे आत्माभिमान से पूर्ण शेर के समान सिर उठाये चले जाते थे। वे सोचते थे कि सुख खोया, राज्य भी गँवाया, किन्तु स्वतंत्रता तो नहीं बेची। ये ही वे पुरुष थे जो गरीब रहकर भी, अगणनीय विपत्तियों द्वारा पीड़ित होने पर भी, यहां से वहाँ भागते-भागते भी, आज संसार के लिए पूजनीय बने हैं। कष्ट सहने के कारण उनके मुख कुम्हला गए थे, किन्तु फिर भी उनसे जो आभा निकलती थी उसका सामना करना—आँखें उठाकर उसकी तरफ देखना—कठिन था। वे स्वतंत्रता देवी के उपासक थे, उसके लिए वे राह के पथिक बने; फिर भी उसके अनन्य भक्त बने ही रहे। यही कारण है कि अन्त में स्वतंत्रता देवी ने उन्हें वरा, उनको पूजा तथा उनके गले में अमरत्व की वह वरमाला डाली कि राजपूतों के अस्तित्व तक ही नहीं, किन्तु जब तक हिन्दू-जाति रहेगी, भारत का एक बालक तक रहेगा, तब तक उनका गौरव उसके स्मृति पटल पर सदैव अक्षुण्ण बना रहेगा। स्वतंत्रता के उन पुजारियों के कष्टों की वार्ता सुनकर, उनके अदम्य-साहस को देखकर, उनकी अनन्य भक्ति की गाथा पढ़कर किसका सिर न झुकेगा? कौन अभागा होगा, जिसके मुख से उनके प्रति श्रद्धा के शब्द न निकलेंगे? निरंतर युद्ध होता रहा, प्रतिदिन यज्ञ में आहुति पड़ती रही; अंत में एक दिन महायज्ञ हुआ। हल्दी-घाटी का मोर्चा था। राजा मानसिंह चिढ़कर, अकबर से कहकर, एक बड़ी शाही सेना लेकर मेवाड़ पर चढ़ दौड़े। राजपूतों का संहार हुआ। वे बड़ी वीरता से लड़े। हजारों

काल के कवल बने। राणा प्रताप पर भी आ बनी थी, किन्तु विधि का विधान कुछ दूसरा ही था। राजपूतों की बहुत क्षति हुई। कौन हारा, यह नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह मान लिया जाय कि राणा प्रताप हारे, किन्तु हारकर भी वे ही जीते। इस युद्ध ने हारे हुए राणा को अमर कर दिया और जीतकर भी मानसिंह प्रताप के समान पूजनीय नहीं बन सका। अब प्रताप का रहा-सहा राज्य भी चला गया। एक-एक करके उसके सब दुर्ग जाने लगे, किन्तु उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा। बारम्बार चढ़ाइयाँ हुईं; फिर भी सम्राट् अकबर सफल-मनोरथ नहीं हुए। अंत में जब महाराणा की मृत्यु हुई, तब "गहलोत राणा जीति गयो।" थोड़े से स्वदेश-भक्त और कर्त्तव्य-परायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतंत्रता की राणा ने रक्षा की और सारे जीवन-भर अपने समय के संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यसंपन्न सम्राट् अकबर को चैन न लेने दिया। उस वीर के प्रति कौन श्रद्धांजलि अर्पण न करेगा?

राणा प्रताप ने इस लोक को छोड़ दिया। किन्तु अपनी कर्तव्य-परायणता को वे यहीं छोड़ गए। उनकी मृत्यु के अनंतर भी धीरे-धीरे समय-समय पर युद्ध चलता रहा और कभी भी मेवाड़ ने देहली की पूर्ण अधीनता स्वीकार न की। किन्तु ज्योंही आलमगीर अपने भाइयों के रुधिर की नदी में स्नान कर सिंहासन पर बैठा, राजपूतों को स्वातंत्र्य-युद्ध के लिए पुनः तैयार होना पड़ा। उस समय मेवाड़ के सिंहासन को महाराणा राजसिंह

सुशोभित कर रहे थे। औरंगजेब ने मारवाड़ के अधीश्वर जसवंत-सिंह जी को अपने मार्ग में से निकाल बाहर किया। दूर पहाड़ों में उनकी मृत्यु हुई। रानी अपने नवजात शिशु को लेकर दिल्ली लौटी। मारवाड़ राज्य की एकमात्र आशा वह कुछ ही महीनों का बच्चा था। आलमगीर की आँख उस पर लग गई। मारवाड़ के ही नहीं, किन्तु राजपूतों के सौभाग्य से उस समय एक ऐसा वीर वर्तमान था, जो शिशु महाराजा अजीत को बचा सका। अजीत का पालन-पोषण अज्ञात स्थान में हुआ। मारवाड़ राज्य को भी उसी वीर दुर्गादास ने नष्ट होने से बचाया। मारवाड़ पर भी शाही सेना के आक्रमण होने लगे, किन्तु दुर्गादास के नेतृत्व तथा निरीक्षण में मारवाड़ के सरदार उसका सामना करते रहे। औरंगजेब को दुर्गादास का बहुत भय था। दुर्गादास ने अपनी चतुराई से प्रायः सारे राजपूतों को एकत्र करके सम्राट् का विरोध किया। तभी तो कवि यह कह उठता है—"इह! माता पूत इस्यो जणे, जिस्यो दुर्गादास।" उस वीर के कड़क-भरे आह्वान ने सारी राजपूत-जाति में पुनः जान डाल दी; राजपूत पुनः मुस्लिम सत्ता का विरोध करने को उठ खड़े हुए। इस बांके वीर ने राजपूतों को फिर राणा प्रताप वाले उन पुराने दिनों की याद दिला दी। दुर्गादास ने स्वामिभक्ति, वीरता तथा साहस का एक अपूर्व उदाहरण उपस्थित किया। यही कारण है कि राजस्थान के इतिहास का विवरण लिखते-लिखते एकाएक कर्नल टाड की लेखनी रुक गई तथा अपने निश्चित पथ को छोड़-

कर लिखने लगी—"जिस किसी को यह ख़याल हो कि राजपूत वीरों में स्वदेश-भक्ति नहीं पाई जाती है वह इन ३० वर्षों के इतिहास को पढ़े, किसी भी देश के इतिहास के साथ इसकी तुलना करे और तभी उदार-हृदय राजपूतों के प्रति न्याय करे। यह इतिहास राजपूतों के निरंतर स्वदेश-प्रेम तथा उनकी निर्लोभ राजभक्ति का एक विवरण है। जिन गुणों के कारण राजपूत पूजे जाते हैं, वे सब दुर्गादास में कूट-कूटकर भरे थे; वीरता, राजभक्ति, सचाई तथा कठिनाई के समय धीरज रखना—ये सब गुण उसमें पूर्णरूप से पाये जाते थे और इसी कारण आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है।"

किन्तु यह ज्योति एक बुझते हुए दीपक की अंतिम चमक थी। राजपूतों का शीघ्र ही पतन होने लगा। निरन्तर युद्ध तथा विलास के कारण ये जीवन-विहीन होने लगे थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उनके पतन का प्रारम्भ हुआ। औरंगजेब के साथ ही मुगल साम्राज्य का सितारा भी डूब गया। अब राजपूतों को मुगल आक्रमणों की आशंका न रही। मरहठों का ज़ोर बढ़ता गया, किन्तु इनसे अपना पिंड छुड़ाने की तदबीर आसान थी। राजपूतों को अब आराम मिला। इस सुख तथा विलास ने ही उनको डुबो दिया। युद्ध के लिए ही उनका उत्थान हुआ था, युद्ध ही उनका जीवन था और यही कारण है कि युद्ध के समाप्त होने के साथ ही राजपूत भी निर्जीव हो गए।

राजपूतों का उत्थान हुआ था भारत के पतन के साथ और

मुसलमानों के आगम-काल से ही वे चमके और ऐसे चमके कि कई बार मुस्लिम वीरता को भी उन्होंने फीका कर दिया। किन्तु मुस्लिम साम्राज्य के अन्त के साथ ही राजपूतों ने भी भारत का राजनीतिक रंगमंच छोड़ दिया; या उस रंगमंच पर ही वे एक कोने में निश्चेष्ट पड़ गए, गाढ़ निद्रा में सो गए। जागीर-प्रथा के प्रचार के कारण ही वे प्रारंभिक दिनों में मुसलमानों का सामना कर सके थे। शासक का अन्त हो जाता था, किन्तु उसके सरदार साम्राज्य का अन्त न होने देते थे। किन्तु समय के फेर के साथ ही जो पहले लाभप्रद थे वे ही अब हानिकारक हो गए; वही जागीर-प्रथा अब राजपूतों के पूर्ण पतन में सहायक हुई। यों ही जगन्नियन्ता अपने निश्चित उद्देश्य को अदृष्ट रूप से कार्यरूप में परिणत करता है। कोई सात शताब्दी तक निरंतर स्वातंत्र्य-युद्ध करने वाले राजपूत एकबारगी निश्चेष्ट हो जायँगे, यह एक ऐसी बात है जो आसानी से कोई नहीं मान सकता, किन्तु यह एक कठोर ऐतिहासिक सत्य है।

[अगस्त, १९२८ ई०

शिमला से

: १ :

प्रियवर, मैं तुम्हारी पृथ्वी से बहुत दूर, मानों किसी गन्धर्व-लोक में, आ गया हूँ। अभ्रम्भेदी गिरिराज के अङ्क में यह लोक बसा है। यहाँ विलासियों का श्री-निकेतन है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यहाँ के लोगों को जरा, मृत्यु और व्याधि का भय ही नहीं है; तो भी इसमें सन्देह नहीं कि चिन्ता से ग्रस्त लोग भी यहाँ आकर अपनी सारी चिन्तायें भूल जाते हैं। यही जान पड़ता है कि मनुष्य का सारा जीवन ही एक क्रीड़ा है, लीला है, विलास है, सुख-स्वप्न है। यह बात नहीं है कि सभी लोग यहाँ श्रीमान् ही हैं। यदि सभी श्रीमान् हो जाते तो उन श्रीमानों की सेवा ही कौन करता? जहाँ श्रीमान् हैं वहीं दरिद्रों की आवश्यकता है। उन्हीं से उनकी श्री-वृद्धि होती है। जहाँ ऐश्वर्य है, जहाँ विलास है, वहाँ दुःख और दारिद्र्य न हो तो ऐश्वर्य की महत्ता कैसे प्रकट होगी? जहाँ प्रभु हैं वहीं भृत्य होंगे; जहाँ शासक है वहाँ शासित होंगे; जहाँ विलास है वहाँ दारिद्र्य होगा।

यों तो भारत में कई पहाड़ हैं जहाँ हमारे शासकों के ग्रीष्म-कालीन विहार-स्थल हैं, किन्तु उनमें सबसे रमणीय वे स्थान हैं जो भारत-मुकुट-मणि हिमालय पर स्थित हैं। उनमें मुख्य हैं

शिमला, मसूरी, नैनीताल और दार्जिलिङ्ग। राजनैतिक दृष्टि से शिमला ही इनमें सबसे मुख्य है क्योंकि भारत के वाइसराय ग्रीष्मकाल में यहीं निवास करते हैं। एक तरह से तो छः मास के लिए—अप्रैल से सितम्बर तक—शिमला ही भारतवर्ष की राजधानी हो जाता है। शिमला का वर्णन करते हुए एक लेखक लिखता है कि "शिमला का यह छोटा शहर भारतीय साम्राज्य की राजधानी है। भारत के कितने ही राजे, महाराजे और उच्च-पदस्थ कर्मचारी तथा विदेशों के कितने ही श्रीमान् यात्री यहाँ के सब बाजारों में घूमते दिखाई देते हैं। छः मास तक लगातार ऊँटों और बैलों की लम्बी-लम्बी कतारें भारत में प्राप्य ऐश्वर्य का सामान लादकर यहाँ ढोती रहती हैं। हजारों सुन्दर छोटे-छोटे बँगले यहाँ के आस-पास की पहाड़ियों पर बने हुए हैं। यहाँ प्रतिदिन साफ़ सड़कों पर ग्रीष्म-काल में सन्ध्या के समय नये-नये फैशन तथा सौंदर्य की एक प्रदर्शनी-सी हो जाती है।"

शिमला जाने के लिए हमें कालका जाना पड़ता है। यह एन० डबल्यू० रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ से शिमला जाने के लिए दो राह हैं; एक तो मोटर का रास्ता और दूसरा रेलवे का। मोटर की सड़क का काम सन् १८५० ई० में आरम्भ हुआ था और रेल के बनने के पहिले मोटर ही से सब आते-जाते थे। आज भी कितने ही यात्री मोटर से जाते हैं। यह सड़क कोई ५८ मील लम्बी है इसको बनाने में इन्जीनियरों ने अपनी सारी बुद्धि लगा दी है। सड़क पहाड़ के ऊपर ऐसे ढंग से निकाली गई है

कि चढ़ाव ज्ञात नहीं होता है। कालका से कोई १४ मील पर धरमपुर आ जाता है जहाँ क्षय रोग के रोगियों के लिए सेनिटोरियम भी है, और यहीं से कसौली को रास्ता जाता है। यहाँ एक डाक-बँगला है। रेलवे-स्टेशन पर खाने-पीने के लिए सामान मिल सकता है। यहाँ से सबाथू जाने को एक राह है, जहाँ कुष्ठ के रोगियों की चिकित्सा होती है। आगे यह सड़क डागशी पहाड़ी के तले होकर निकली है। इस पहाड़ी पर सेना रहती है। यद्यपि यहाँ सघन वृक्ष हैं, किन्तु सुदूर पर बने हुए बैरक आदि दिखलाई देते हैं। आगे कुमरहट्टी का छोटा-सा गाँव मिलता है जहाँ से बड़ोघाट की चढ़ाई शुरू होती है। कोई ढाई मील जाने पर हम उस पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से सोलन की तलहटी का अच्छा दृश्य दिखाई देता है। यहाँ से फिर उतार शुरू हो जाता है। कुछ दूर तक तो झाड़ी बड़ी ही सघन है। यहाँ की सड़क बड़ी ही विकट है। एक ओर तो ऊँचे-ऊँचे कगार दिखाई देते हैं और दूसरी ओर गहरे गह्वर। आगे कोई मील-भर की घाटी के बाद हम सोलन पहुँच जाते हैं। यहाँ का डाक-बँगला बहुत अच्छा है और प्रायः प्रत्येक यात्री यहाँ कुछ खा-पी लेता है और फिर आगे चढ़ता है। थोड़ी दूर से फिर उतार शुरू हो जाता है जो कंडाघाट में जाकर पूरा हो जाता है। कंडाघाट से चैल, जो पटियाला महाराज का ग्रीष्म-निवास-स्थान है, एक सड़क जाती है। यहाँ नीचे आशनी नदी भी नज़र आती है। कंडाघाट के आगे कोई पाँच मील तक चढ़ाव

हैं; यहाँ कियारीघाट का एक डाक-बँगला है। यहाँ से राह सीधी और समतल है ; किन्तु कथलीघाट के बाद चढ़ाव फिर शुरू हो जाता है। हम शोगी पहुँचते हैं और आगे तारादेवी। यहाँ अलीगढ़ डेअरी फार्म की एक ब्राँच है। तारादेवी से कोई तीन मील पर शिमला म्युनिसिपैलिटी की हद शुरू होती है।

यह तो मोटर आने-जाने की राह है; रेल की यात्रा का विवरण भी आपको बतलाता हूँ। कालका से शिमला के लिए जो रेलवे-लाइन निकली है वह दो फ़ीट छः इंच की छोटी लाइन (Narrow Gauge) है। कालका से ही रेल हिमालय की अगण्य श्रेणियों पर चढ़ने लगती है। यहाँ इञ्जीनियरों ने रेल-पथ को ऐसी खूबी से निकाला है कि देखकर आश्चर्य होता है। कालका से कुमरहट्टी तक लगातार चढ़ाव-ही-चढ़ाव है। यहाँ से थोड़ी दूर पर ट्रेन बड़ोग के बोगदे में घुसती है। यह बोगदा ३,७०० फ़ीट लम्बा है। इससे निकलते ही बड़ोग का स्टेशन आ जाता है, जहाँ यात्रियों के खाने-पीने का पूर्ण प्रबन्ध किया गया है और उनके सुभीते के लिए रेल आधा घण्टा ठहरती है। बड़ोग में यात्रियों को प्रथम बार पहाड़ों की शान्ति तथा शीतलता का आभास होता है तथा उन्हें मैदान की गर्म लू का डर नहीं रहता। यहाँ से कंडाघाट तक ट्रेन उतरती रहती है। कंडाघाट के बाद ट्रेन फिर चढ़ने लगती है और जहाँ तक शिमला नहीं आ जाता है, चढ़ती ही जाती है। ज्यों-ज्यों ट्रेन पहाड़ पर चढ़ती जाती है, यात्रियों को एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है।

एक ओर तो गगनस्पर्शी गिरि-शृङ्ग दिखाई देते हैं और दूसरी ओर ट्रेन से थोड़े ही फ़ीट की दूरी पर कोई हज़ार फ़ीट गहरा विकराल गह्वर मुँह बाये दिखाई देता है, मानो यात्रियों को यह सूचित कर रहा है कि ऐश्वर्य-लोलुपों के लिए कराल काल अपना विकराल विवर फैलाये हुए है।

इस सड़क पर कोई १०३ तो बोगदें हैं, जिनकी कुल लम्बाई पाँच मील से अधिक है। इस सड़क को बनाने में १,८०,००,००० रु० खर्च किया गया था। अन्त में सुदूर स्थित शिमला दिखाई पड़ने लगता है, जिससे नवीन यात्रियों के हृदय में कुतूहल का भाव उमड़ने लगता है। आख़िर शिमला आ ही जाता है।

: २ :

अब मैं तुमको ज़रा शिमला की सैर करा देना चाहता हूँ। यहाँ पहाड़ों पर घूमने के लिए सिर्फ़ रिक्शा ही मिलती है। हाँ, अगर हम कोशिश करें तो किराये पर घोड़े भी मिल सकते हैं। यहाँ का सबसे खुला मैदान रिज है। यहाँ पूर्व की ओर क्राइस्ट चर्च है। यहाँ आपको सन्ध्या के समय अंग्रेज़ बच्चों को लिये दाइयां बैठी दिखाई देती हैं। इसी मैदान में प्रतिवर्ष भारत-सम्राट् के जन्म-गांठ के उत्सव में परेड होती है। हिमालय के शृङ्ग पर ब्रिटिश-सिंह की जय-पताका प्रदर्शित होती है। एक ओर पश्चिम की तरफ कुँवर जीवनदास, जबलपुर, द्वारा बनाया हुआ बैण्ड-स्टैण्ड है। यहां प्रति सोमवार की सन्ध्या को बैंड बजाया जाता है। यहां से पूर्व की ओर जेको नामक चोटी

दिखाई देती है; उत्तर में हिमाच्छादित चोटियां दृष्टिगोचर होती हैं। तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि प्रत्येक राहगीर किसी-न-किसी काम में व्यस्त-सा चला जा रहा है, मानो उसके लिए वहाँ कुछ है ही नहीं। थोड़ी ही दूर पर पहाड़ियों तथा घाटियों का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। यह दृश्य सुन्दरता की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जब सुदूर हिमाच्छादित चोटियाँ वृक्षों से ढकी हुई पहाड़ियों के पीछे स्पष्ट दिखाई देती हैं। दूसरी ओर हमें मैदान दीख पड़ता है तथा नीचे सतलज नदी एक लकीर के सदृश नज़र आती है। इस सुन्दरता को प्रकृति के प्रेमी ही जान सकते हैं, तथा उनमें अवर्णनीय आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। जो मनुष्य इस स्थान से निकलते हैं और प्रकृति के इस शुद्ध तथा सुन्दर दृश्य में कुछ नहीं देख पाते हैं; तभी जान पड़ता है कि मनुष्य ने अपने आपको कितना कृत्रिम बना लिया है। उसे प्रकृति के शुद्ध तथा सुन्दर दृश्यों में आनन्द तथा सुख का अनुभव नहीं होता। उसे अपने नेत्रों की तृप्ति के लिए मनुष्य द्वारा निर्मित मकान तथा वस्तुएँ ही चाहिएँ। मनुष्य के लिए बाज़ार में जो आकर्षण होता है वह पहाड़ की इन गगनचुम्बी चोटियों, गहरी घाटियों तथा सुदूर-स्थित मैदान की शान्ति में नहीं मिलता है।

अब कहो, तुम्हें किधर ले चलूँ। गिरजे की बाईं ओर एक रास्ता जाता है। चलो उसी राह चलें। इस रास्ते पर हमें लक्कड़बाज़ार मिलेगा। यहाँ लकड़ी पर खुदाई का तथा लकड़ी में पीतल या हाथी-दाँत की जड़ाई का सुन्दर काम दूकानों

में देखने को मिलता है। यहाँ की दूकानें खासकर सिक्खों की हैं। आगे हमें भारत के जंगी लाट की कोठी 'स्नोडान' नज़र आती है। यह मकान पहले लार्ड राबर्ट्स का था; किन्तु लार्ड किचनर के समय से जंगीलाट यहाँ ही रहते आए हैं। यहाँ से आगे चलने पर हमें मशोबरा नामक पहाड़ी चोटी नज़र आती है और उसके पीछे शाली नामक चोटी देख पड़ती है, जिसकी ऊँचाई ८,५०० फ़ीट है। कुछ आगे मेयो स्कूल तथा अनाथालय दिखाई देते हैं और आगे संजोली नामक गाँव आता है। यह गाँव अपनी स्थिति के कारण दूर से बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता है। यहाँ से दो रास्ते हो जाते हैं; एक तो संजोली के बाज़ार में होता हुआ आगे चला जाता है, दूसरा 'लेडीज़ माल' नामक सड़क की ओर। यह पथ दाहिनी ओर का है; यह लार्ड लिटन के शासन-काल में बना था। यह सड़क चौड़ी और समतल है। इसकी सुन्दरता किनारे-किनारे लगी हुई घनी झाड़ी से बहुत बढ़ गई है। यह राह पहाड़ के मोड़ के साथ मुड़ती गई है। कोई आधी दूर पर हमको वे चट्टानें दिखाई देंगी जिन पर पहाड़ में से पानी के साथ बहकर निकले हुए खनिज पदार्थ जम गए हैं। उन चट्टानों पर पानी के बहने के चिन्ह भी स्पष्टतया अंकित हैं। इनका नाम रक्खा गया है 'डेविल्ज़ पेण्ट बाक्स', अर्थात् शैतान के रंगों की पिटारी। यहाँ लेडीज़ माल में से एक सड़क निकली है, जिसका नाम है लवर्स वाक (Lover's Walk), अर्थात् प्रेमियों का पथ। कैसा

विचित्र नाम है ! इस पथ पर हमें प्रकृति के उपासक तथा भ्रमण के इच्छुक पुरुष मिलेंगे। इस सड़क पर प्रातःकाल में अच्छी छाया रहती है; यहाँ सर्वत्र दूर तक शान्ति छाई हुई है, जो अगर कभी भंग होती है तो किसी शौकीन सवार तथा अंगरेज़ युवतियों के घोड़ों के टापों की आवाज़ से। इस स्थान को देखकर शान्ति तथा एकान्तवास के प्रेमियों का हृदय प्रसन्न हो जाता है। यह राह बहुत ही समतल है। यहाँ से पञ्जाब गवर्नर के रहने के स्थान 'बार्न्स कोर्ट' की ओर एक राह जाती है। इस भवन का नाम सर एडवर्ड बार्न्स की याद्गार में रखा गया है। ये बार्न्स साहब वाटरलू के महान् युद्ध में, जहां सदा समर-विजयी नेपोलियन को भाग्य के फेर से हार खानी पड़ी थी, अँगरेज़ी सेना के सेनापति ड्यूक आफ़ वेलिङ्गटन के सहायक थे। सन् १८३२ ई० में ये भारत में जंगीलाट होकर आये थे। यहां कुछ काल के लिए वास किया था। आगे पंजाब सेक्रेटेरियट आता है। कुछ आगे जाने पर एक रास्ता छोटा शिमला के बाज़ार में घुसता है। यह राह छोटा शिमला के बाज़ार में होती हुई कसमटी के बाज़ार में घुसती है और आगे पहाड़ों पर निकल जाती है। कसमटी शिमला की म्युनिसिपैलिटी तथा जुङ्गा और कोठी नामक छोटी रियासतों के सरहदों पर बसा हुआ है। हम अगर कसमटी से कुछ दूर निकलें तो हमको निर्जन पहाड़ियाँ और घाटियाँ दिखाई देंगी। इन पर कहीं-कहीं छोटे-छोटे गांव बसे

दिखलाई देते हैं। कहीं-कहीं कुछ समतल जगह भी है। वहाँ खेत बनाकर उनमें कुछ खेती की जाती है।

अब मैं तुमको शिमला की ओर लौटाता हूँ। हम पंजाब सेक्रेटेरियट से दाहिनी ओर का रास्ता लेते हैं। यहाँ हमको छोटा शिमला का डाक तथा तार-घर मिलता है। यहां कुछ चढ़ाई के बाद राह फिर कुछ समतल हो जाती है। यहाँ से बार्न्स कोर्ट की ओर जाने को रास्ता फटता है। आगे हमारी सड़क पहाड़ी को चीरती हुई निकलती है, जिसको पहले खैबर का दर्रा कहते थे। यह देखिये पटियाला महाराज के मकान आ गए। बाईं ओर ओकोवर रह जाता है और अन्य मकान दाहिनी ओर।

इस सड़क पर जाते समय हमको काश्मीरी मुसलमान तथा पहाड़ी लोग अपने कंधों पर लकड़ी के शहतीर या कोई अन्य भारी वजन उठाये मिलेंगे। यही हिमालय के पुत्र हैं। उनके लम्बे बाल कंधों तक लटकते रहते हैं, और गन्दे, जीर्ण ऊनी कपड़े तथा भेड़ की खालें उनके कंधों से लटकती रहती हैं। उनके जर्द चेहरे, छोटी तथा चपटी नाक और ऊपर चढ़ी हुई आंखों से मालूम होता है कि वे पंजाब के निवासी नहीं हैं। ये हमेशा लकड़ी का हुक्का पीते जाते हैं और खुशी तथा मुस्कराहट सर्वदा उनके चेहरों पर नृत्य करती रहती है। बातें करने को तथा खाने को वे हमेशा तत्पर रहते हैं। पंजाब के ये पहाड़ी लोग मनुष्यों से बहुत हिल-मिल जाते हैं। उनमें

कई गुण भी होते हैं। वे विश्वसनीय, ईमानदार, शुद्ध तथा थोड़े में खुश और संतुष्ट होने वाले होते हैं। इनकी क़तार की क़तार अक्सर लकड़ी के बड़े-बड़े कई शहतीर पाधू पहाड़ से लि आतेये दिखाई देती है। ये इन शहतीरों को एक मोटे रस्से के साथ, जो कपड़ों के चीथड़ों का बनाया हुआ होता है, अपने कंधों पर बाँध लेते हैं, और यद्यपि ये बोझ के मारे झुके जाते हैं और सख़्त मेहनत के कारण उनके चौड़े कपाल पर पसीने की बूँदें दिखलाई पड़ती हैं, जिन्हें वे समय-समय पर पोंछते जाते हैं, तो भी वे अपने रास्ते पर बराबर चलते ही जाते हैं। जब वे ज्यादा थक जाते हैं, तब कुछ देर के लिए पहाड़ के सहारे या किसी अन्य चीज़ के सहारे अपना बोझ टिकाकर कुछ देर के लिए आराम करते हैं, पर ज्यों ही थकावट मिटने लगी, वे फिर रवाना हो जाते हैं। कई बार नवयुवतियाँ भी ऐसे बड़े-बड़े बोझ उठाये जाती दिखाई देती हैं। इस तरह इनके जीवन का एक बड़ा भाग व्यतीत हो जाता है। यद्यपि ये बोझ के मारे झुक जाते हैं तथापि ये सदा सुखी और अपने भाग्य से संतुष्ट प्रतीत होते हैं। कभी-कभी सारा कुटुम्ब का कुटुम्ब माँ, बाप, छोटे-बड़े भाई, बहनें सब यथा-शक्ति एक-एक भारी बोझ लिये क़तार में मिलते हैं। ये हुक्का पीते जाते हैं और खुश होकर बातें भी करते रहते हैं। लकड़ी के शहतीर अक्सर सड़क की चौड़ाई के बराबर लम्बे होते हैं—कभी-कभी इससे भी बड़े होते हैं। इन बेचारे कुलियों को वे

शहतीर पाब्रू से, जो शिमला से कोई दस मील की दूरी पर है, शिमला लाना पड़ता है। जब कभी कोई सवार अथवा रिक्शा आती दिखाई देती है तब अपने शरीर को मोड़कर ये उस लम्बे शहतीर को सड़क की सीध में ऐसी फुर्ती के साथ करते हैं कि देखते ही बनता है।

ज़रा इनकी दशा पर कुछ विचार कीजिए। इनके जीवन में न हर्ष है और न विषाद; ये अपनी जीविका के लिए ऐसी कड़ी मिहनत करते हैं और खाने-पीने के सिवा अपनी आमदनी से जो कुछ भी बच रहता है, वह तम्बाकू आदि व्यसनों में ही ख़र्च हो जाता है। उन्हें भविष्य का ख़याल नहीं सताता। जीवन में विपत्तियों के झोंके सहन कर-करके ये आज उनसे नहीं डरते हैं; जब विपत्ति आती है उसको सहन करने के लिए झुक जाते हैं, और ज्यों ही वह चली जाती है, उसका ख़याल भी उनके हृदय से निकल जाता है। मनुष्य का जीवन उसकी दशा पर कितना निर्भर रहता है, इसका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है! निरन्तर दुःख तथा विपत्ति को सहन करने से मनुष्य की क्या दशा हो जाती है, तथा उसके क्या विचार हो जाते हैं, यह देखना हो तो इन मनुष्यों को देखिये, जो जीते भी मुर्दे के समान हैं।

: ३ :

अब मैं आगे बढ़ता हूँ। यह देखिये यहाँ बाईं ओर एक रास्ता नीचे जाता है, जहाँ लार्ड रीडिंग हास्पिटल बना हुआ है।

इस अस्पताल में स्त्रियों तथा शिशुओं की चिकित्सा होती है। इसी राह में से आगे एक राह सेन्ट्रल होटल को जाती है, जो आगे जाकर कार्ट रोड में मिल जाती है। पर हम तो सीधे ही चले जा रहे हैं, यह रास्ता माल (Mall) कहलाता है। यह देखिये सामने एक पुराना बैंड-स्टैण्ड दिखाई देता है, जहाँ आजकल शाम के समय आया तथा दाइयाँ बच्चों को लिये बैठी रहती हैं। आगे आपको बाएँ हाथ पर क्लार्क्स होटल दिखाई देगा और कुछ आगे से दूकानों की कतारें शुरू हो जाती हैं। इस सड़क पर हमेशा चहल-पहल बनी रहती है। यहां अधिकतर यूरोपियन स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। यह देखिये रिक्शाएँ भी आपके पास से जा रही हैं और वह घोड़े पर बैठ अँगरेज़ स्त्री और पुरुष आते दिखाई देते हैं। यह चहल-पहल सूर्योदय से सूर्यास्त तक बनी ही रहती है। शाम को भी कोई नौ बजे के बाद ही शिमला की सड़कें सूनी मिलेंगी। यहाँ कोई इस रेस्टरां (Restaurant) में जा रहा है तो कोई उस होटल में से निकल रहा है। कोई इस दूकान में ख़रीदने जा रहा है, कोई उसमें। आश्चर्य यह होता है कि दिन-भर यह भीड़ कहाँ से आती है तथा कहाँ जाती है। यह भी विचार उठता है कि क्या इन विलासी पुरुषों को निरन्तर ख़रीदने के सिवा अन्य कोई उद्यम है भी या नहीं, और इसके लिए उनके पास इतना पैसा कहाँ से आता है।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इस सड़क पर अधिकांश

यूरोपियन स्त्री-पुरुष ही दिखाई देते हैं। आपको अगर इनके फ़ैशनों के विचित्र-विचित्र नमूने देखने हों तो क्षण-भर के लिए ज़रा इस सड़क पर ठहर जाइए। आपको सामने सब दिखाई देगा। यहाँ भारतीयों पर भी पाश्चात्य सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव है। यहाँ आपको एक ही साथ दो भिन्न-भिन्न दृश्य दिखाई देंगे। एक ओर तो वे मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनकी सब ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं तथा सुख का भी बहुत-सा सामान मौजूद है, फिर भी आत्म-दशा पर सन्तोष नहीं है। दूसरी ओर वे ग़रीब हैं जिनकी अन्य ज़रूरतों का पूर्ण होना तो अलग रहा एक बार भी भर-पेट अन्न नहीं मिलता; फिर भी वे खुश और अपनी अवस्था से सन्तुष्ट हैं। कितना बड़ा अन्तर है! एक ओर वे पुरुष हैं, जो यद्यपि ऐश्वर्य और विलास में निमग्न हैं फिर भी उन्हें अधिक की चाह लगी है। किन्तु दूसरी ओर सर्वशक्तिमान् भगवान् को इसी बात के लिए दुआ दी जाती है कि आज तो भूखों मरना न पड़ा। एक ओर तो वे आत्माएं हैं जो विलास तथा सुख के उपभोग के लिए शिमला आती हैं तथा दूसरे कड़ी मेहनत करने को। इन विलासियों के मुख पर अगर कोई चिंता झलकती है तो अपने साथी की अच्छी दशा देखने पर अपनी दशा से असन्तोष होने के कारण। दूसरे ऐसे हैं कि यद्यपि निरन्तर परिश्रम के कारण कम उम्र हो में झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, कड़ी मेहनत के कारण कमर झुक गई है, फिर भी चेहरे से हमेशा सन्तोष टपका पड़ता है। उनके चौड़े कपाल पर तथा

चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं। उनकी एक-एक झुर्री कहती है कि हम उस वीर के पदक-स्वरूप हैं, जिसे पग-पग पर अपनी जीविका के लिए सामना करना पड़ता है। इन चलते हुए मिट्टी के ढेलों के हृदयों की कौन थाह पा सकता है! यद्यपि ऊपरी दिखावे से ये मिट्टी के ढेले दिखाई देते हैं, किन्तु इनके हृदय निरन्तर विपत्ति की आग में जलकर अब शुद्ध तपाये हुए सुवर्ण की भाँति स्वच्छ हो गए हैं। युद्ध में वीरता से लड़ने वालों की अपेक्षा विपत्ति से लड़ने वाले इन वीरों का आसन बहुत ऊँचा है। पग-पग पर आपत्ति में लड़ने वाले तथा जीवन-संग्राम में सफलता से साथ उनका सामना करने वाले इन विजयी वीरों को देखकर हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट होता है तथा उनके प्रति आदर के साथ मस्तक झुक जाता है। एक ही स्थान में—ख़ासकर इस विलास-भूमि में—यह विपरीतता देखने योग्य है। इसको देखकर दर्शक के हृदय में विचित्र विचार उठते हैं। मनुष्य को ऐश्वर्य तथा विलास की निस्सारता प्रकट हो जाती है और उसके प्रति घृणा के भाव हो जाते हैं। वह अनजाने ही उन बेचारे कुलियों से सहानुभूति करने लगता है।

: ४ :

अब हम और आगे चलें। देखिए, यहाँ बाईं ओर काटन मारिस की दूकान के पास से नीचे लोअर बाज़ार में जाने को रास्ता है। यहां म्युनिसिपैलिटी का बाज़ार है। चलिए पहले इसकी सैर कर आवें। यहाँ आपको छोटी-छोटी दूकानें दिखाई देती हैं

जिनमें भारतीय, अफ़ग़ान और तिब्बती दूकानदार अपना सौदा लिये बैठे रहते हैं। यहां आपको प्रत्येक वस्तु मिल सकती है, भिन्नता यही है कि यहां यूरोपियन दूकानों की-सी स्वच्छता तथा सजावट नहीं पाई जाती। इससे आपको इस बाज़ार में कम क़ीमत पर वस्तुएँ मिल जाती हैं। यहाँ ख़ासी भीड़ रहती है। यहां अँगरेज़ स्त्री-पुरुष भी कभी-कभी सौदा ख़रीदते दिखाई देते हैं। इस बाज़ार का वर्णन करते हुए एक अँगरेज़ लेखक ने लिखा है—"इस बाज़ार में सर्वत्र शोर-गुल, खाना-पीना, लड़ाई-झगड़ा, क़ीमत पर झिक-झिक करना ही पाया जाता है। यहां की भीड़ में सब तरह के मनुष्य—प्रत्येक देश, धर्म, जाति और उम्र के स्त्री-पुरुष—पाये जाते हैं; ऐसी भीड़ किसी अन्य स्थान में पाना मुश्किल है। यह वह स्थान है जहां राज-नीतिज्ञ तथा षड्यन्त्रकारी इकट्ठे होते हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह बाज़ार एक ऐसा स्थान है जहाँ उनको अपने काम का तथा विचार के लिए बहुत सा मसाला मिल सकता है।"

अब वापस लौटकर 'माल' पर फिर चलें। बाईं ओर दूकानों की कतार-की-कतार चली गई है। आगे एक बड़ा मकान दिखलाई पड़ता है। यह पहले टाऊन हाल था। आजकल यह गेटी थियेटर (Gaiety Theatre) है, जो ग्रीष्मकाल में "शिमला एमेचूर ड्रमेटिक क्लब" की नाट्य-शाला हो जाता है। इसके पास ही शिमला म्युनिसिपैलिटी का दफ्तर है। बाईं ओर

सामने 'फ़ायर-स्टेशन' है। गेटी थियेटर के आगे का बड़ा मकान स्टेशन-लायब्रेरी है। इसकी स्थापना सन् १८४४ ई० में हुई थी। यह भारत का एक अच्छा पुस्तकालय समझा जाता है।

अब आगे चलिए। यहाँ दाहिनी ओर शिमला का बड़ा डाकघर है। आगे आपको दोनों ओर मकान मिलते हैं; कोई किसी संस्था-विशेष का भवन है और कोई किसी महकमे का दफ़्तर है। कुछ दूरी पर हमें पेलिटी का ग्रेंड होटल नज़र आता है। इस मकान का पूर्व इतिहास बहुत लम्बा है; यह कई संस्थाओं का केन्द्र भवन तथा कई विख्यात पुरुषों का निवास-स्थान रह चुका है। यहाँ से आगे एक सड़क अननडेल नामक एक सुन्दर घाटी को जाती है जहाँ एक क्लब, घुड़दौड़ तथा पोलो आदि के मैदान बने हुए हैं।

कुछ आगे चलने पर हमें कई रास्ते मिलेंगे। थोड़ी दूर पर भारत की व्यवस्थापिका-परिषद् का भवन दिखाई देता है। कुछ आगे चलने पर नीचे खड़हठी के घुड़दौड़ के मैदान का एक अच्छा दृश्य दिखाई देता है और ऊपर हिमाच्छादित चोटियों का दृश्य बहुत ही रमणीय दृष्टिगोचर होता है। आगे हमें सेसिल होटल मिलता है। यह एक विशाल भवन है। इसमें प्रायः बड़े-बड़े श्रीमान् तथा अँगरेज़ ही ठहरते हैं। यहाँ से रास्ता सीधा वाइसराय के भवन 'वाइसरीगल लाज' की ओर जाता है। यह भवन आवज़रवेटरी हिल (Observatory Hill) पर बनाया गया है। यह महल बड़ी सुन्दरता से सजाया गया है।

इसके चारों ओर दूब लगाई गई है और यहाँ का बाग भी अच्छा है। इसके आस-पास ही एक गिरजा तथा तीन मकान वाइसराय के ए० डी० सी० (A. D. C.) आदि के रहने के लिए बनाये गए हैं।

यहाँ से हम समरहिल की ओर प्रस्थान करते हैं। यह सड़क बड़ी सघन वृक्षों से ढकी हुई है। यहाँ से होते हुए समर हिल के रेल के स्टेशन पर जा निकलते हैं। इस स्थान की बस्ती कुछ समय से बहुत बढ़ गई है और यहाँ एक छोटे शहर-सी बस्ती बस गई है। इनके सुभीते के लिए शिमला से समर हिल तक एक स्पेशल ट्रेन जाती है।

यहाँ से बाइलुगंज (Boileauganj) को दो सड़कें जाती हैं। दोनों सड़कें सुरम्य स्थान में होकर गुज़रती हैं। यहाँ से एक राह जुतोग नामक पहाड़ी को जाती है। हम यहाँ से वापस लौटते हैं ओर वाइसरीगल लाज के पास होते हुए और पीटर हॉफ (Peterhoff) नामक मकान के नीचे होकर आगे चले जाते हैं। यह मकान कोई २६ वर्ष तक वाइसराय का निवासस्थान रह चुका है, और आजकल वाइसराय का वह मेम्बर जिसके हाथ में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ज़मीन का विभाग है, यहाँ रहता है। यहाँ से आगे हम भारत सरकार के फ़ॉरेन डिपार्टमेण्ट के पास होकर चौरा मैदान पर निकल आते हैं। अब हम जिस राह से आये थे उसी राह से चले जाते हैं, किन्तु आगे जहाँ दो सड़कें फूटती हैं, दाहिने हाथ की ओर मुड़ जाते हैं। तब हम

इम्पीरियल बैंक के दफ़्तर के पास से निकलते हैं, और तार-घर के विशाल भवन के पास होकर हम फिर माल पर आ जाते हैं। यहाँ से बाईं ओर रास्ता लेकर हम पुनः रिज पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से हम रवाना हुए थे।

आपको मैंने सारे शिमला की हवा खिला दी।

परन्तु हम लोगों का वह यक्ष-लोक कहाँ है? हिमालय तो अभी तक ज्यों-का-त्यों खड़ा है।

शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः।

पर वह लोक कहाँ है जहाँ न वार्द्धक्य है, न दुःख है, न मृत्यु है? मेघ तो प्रतिवर्ष हिमालय के पास आता है, परन्तु क्या वह अब भी कोई सन्देश लाता है? दुःख और दारिद्र्य की ज्वाला से पीड़ित, पराधीनता और अपमान से क्षुब्ध भारत क्या हिमालय को कोई सन्देश नहीं भेजता?

[मई, १९२७ ई०

जब बादशाह खो गया था

(कहानी)

"क्या कहती है ? दिल्ली में तेल नहीं मिलता ? हिन्दोस्तान के शाहंशाह के तख्तनशीन होने की ख़ुशी में क्या अब दिल्ली में चिराग़ भी न जलेंगे ?"

"हुजूर ! कल तक तो रुपये का आध सेर की दर से तेल मिलता भी था, लेकिन आज तो सारे व्यापारी यही कहते हैं कि सोने की मोहर देने पर भी आध सेर तेल नहीं मिलेगा। दिल्ली में अब..........."

"तेल नहीं रहा। क्यों ? तेल न रहा, तो न सही; आज दिल्ली में घी के दिये जलाए जायँगे।"

दासी सिर झुकाए खड़ी रही। बेगम ने कहा—"तू खड़ी-खड़ी क्या ताक रही है, ढिंढोरा पिटवा दे कि आज घी के दिए जलाए जायँगे। कह देना कि लालकुँवरि का हुक्म है। बस, इतना ही काफ़ी होगा।"

बाँदी चल पड़ी और लालकुँवरि ने दिल्ली के लाल क़िले के ख़ास महल में एक मुलायम सेज पर अँगड़ाई लेकर सफ़ेद संगमरमर की खुली खिड़की से देख पड़नेवाली यमुना की काली धार पर नज़र डाली।

कुँवरि ने शीराज़ी का ग्लास ढालकर मुँह को लगाया। वह सामने बादशाह को देखकर उठ खड़ी हुई।

"आज अनमनी-सी क्यों हो रही हो, लाल?"

"योंही कुछ दिल में बेचैनी-सी मालूम होती है।"

"तो दिल बहलाने का कुछ इन्तज़ाम किया जाय?"

"इसीलिए तो इस खिड़की के पास बैठी जमुना को देख रही थी। अरे बड़ी गर्मी है! कोई है? शरबत का एक ग्लास। क्या जहाँपनाह को प्यास नहीं लग रही है?"

"हाँ, शरबत तो ठीक है, लेकिन जब तुम्हारी तबीयत अच्छी नहीं है, तो कोई इंतज़ाम क्यों नहीं किया? हकीम साहब को बुलवा लिया जाय?"

"नहीं, हकीम साहब कुछ न कर सकेंगे; मैं बीमार थोड़े ही हूँ, जो उनकी दवा लूँ! आज कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।"

"तो आज दोपहर के बाद कहीं घूमने चलेंगे, ज़रा गर्मी कम हो जाने दो। अगर दोपहर में कुछ बूँदाबाँदी हो गई, तो अधिक अच्छा होगा।"

"अच्छा। पर जहाँपनाह! देखिये, वह क्या कोई नाव आ रही है?"

"हाँ, नाव ही तो है। क्यों, क्या तुम नाव पर दरिया की सैर किया चाहती हो?"

"नहीं। लेकिन आज तक मैंने यात्रियों से भरी नाव को कभी डूबते नहीं देखा।"

"वाह! खूब कही। यह भी कोई देखने की बात है? यह कोई तमाशा थोड़े ही है!"

"तो क्या आप मेरी इतनी-सी भी इच्छा पूरी नहीं कर सकते?"

"लालकुँवरि! तुम भी कैसी छोटी-छोटी-सी बातों में ज़िद करने लग जाती हो। मैंने तो ऐसे ही कहा था। अगर देखना चाहो तो देख लो, अभी कहे देता हूँ। कोई बाँदी है?"

"जी हुज़ूर?" बाँदी ने हाज़िर होकर अर्ज़ की।

"देखो, न्यामतखाँ को जल्द बुला लाओ।"

और थोड़ी देर बाद न्यामतखाँ हाज़िर हुए—

"जहाँपनाह! क्या हुक्म होता है?"

"देखो, सामने से जो यह नाव आ रही है, उसे डुबाने का हुक्म दे दो। मलका यात्रियों से भरी नाव को डूबते देखना चाहती हैं। जाओ, जाकर कह दो कि अभी इस हुक्म की तामील की जाय।"

"परन्तु हुज़ूर!" न्यामतखाँ बोले—"अभी तक मुझे मुलतान की सूबेदारी का पट्टा नहीं मिला। नवाब जुल्फिकार........"

"न्यामतखाँ!" बीच ही में बादशाह बोल उठे—"अभी नाव के बारे में इंतज़ाम करो। मुलतान की सूबेदारी की बात बाद में देखी जायगी।"

"नहीं हुजूर !" न्यामतखाँ ने जवाब दिया—"यह तो अभी तय हो जाना चाहिए; हुजूर से फिर कब अर्ज़ कर सकूँगा। मेरे तो दिन यों ही गुज़र रहे हैं। हुजूर का हुक्म हो गया, लेकिन ये काम वाले सुनते किसकी हैं ! अभी तक नवाब जुल्फिकार........"

"उस जुल्फ़िकारखाँ की इतनी हिम्मत !" बीच में ही लाल-कुँवरि ने ज़रा तैश में आकर कहा—"हिंदोस्तान के बादशाह के हुक्म की इतनी बेक़दरी ! जहाँपनाह ! खूब हुकूमत की। मेरे भाई को छोटी-सी सूबेदारी आप न दे सके !"

"मलका, इतना गुस्सा न करो।" बादशाह कुछ सकपका कर बोले—"जुल्फिकार से पूछूँगा कि देरी क्यों हो रही है।"

"देरी क्या हो रही है हुजूर ! जहाँपनाह ! वह रिश्वत माँगते हैं। वह कहते हैं 'कोई भी सनद तब तक नहीं दी जा सकती, जब तक उसके लिए फीस नहीं दी जाय।' मुझसे वह एक हज़ार सितारें देने को कह रहे हैं। मैंने किसी तरह दो सौ सितारें दे दी हैं, मगर वह तो पूरी एक हजार देने के लिए ज़िद जो कर रहे हैं।"

"अच्छे निकले दिल्ली के वज़ीर और उनके लड़के ! सब रिश्वतख़ोर !" लालकुँवरि ने कुछ व्यंग के साथ कहा।

"ख़ैर। न्यामत, तुम्हें सूबेदारी मिल जायगी, और कल ही तुम्हें सनद दे दी जायगी। अब जाकर तुम नाव के डुबाने का

इंतज़ाम करो। वह नाव तो बातों-बातों में ही इस किनारे आ पहुँची।"

"जहाँपनाह! जब मैं मुलतान का सूबेदार हो गया" न्यामत खुश होता हुआ बोला, "तब एक और नाव के डुबाने का इंतज़ाम करने में क्या देर लगती है। अभी भरी नाव डुबो दी जायगी। कितने ही मुए हैं, जिनके जीने से कोई फायदा नहीं, उन्हें बिठा-बिठाकर एक नाव भिजवाता हूँ। परन्तु मेरी सनद..."

न्यामत जल्दी से खुशी-खुशी रवाना हो गया।

× × ×

दोपहर के बाद अँगड़ाई लेते हुए लालकुँवरि ने बादशाह से कहा—"यह लो, दोपहर भी हो गई। वक्त भी अच्छा है; क्या कहीं बाहर न चलोगे।"

"क्यों न चलेंगे? परंतु कहाँ चलना है?"

"एक जगह चलना है, बहुत जरूरी बात है।"

"आख़िर लाल! बताओगी भी कि योंही मैं बैठा पहेलियाँ ही सुलझाया करूँगा?"

"तुम्हें क्या करना है, तुम्हारे कोई ख़ास फायदे की बात नहीं है; उससे तो केवल मेरा ही लाभ है। ख़ैर, अब उसे जाने दो। अच्छा, शेख़ नासीरुद्दीन अवधी के तालाब पर आज नहाने चलेंगे।"

"वाह लाल! वहाँ नहाने की क्या खूब सूझी! क्या यहाँ का हम्माम अच्छा नहीं?"

"नहीं, उसमें एक ख़ास बात है। शेखजी ने उस तालाब में नहाने वालों के लिए ख़ास बात बताई है।"

"क्या बात बताई है? अब कौनसी तुम्हारी इच्छा पूरी न हुई लाल, जो तुम अब भी उसकी चाह लगाये हो?"

"क्यों, लाल को क्या लाल की चाह नहीं रही, जो तुम ऐसी बात करते हो?"

"लाल! भूला, परंतु इसके लिए क्या किया जाय? चलो, निज़ामुद्दीन की दरगाह पर चलें। वह अवश्य तुम्हें चाँद-सा बेटा देंगे। क्यों न सीकरी ही चलें? इतनी-सी बात के लिए इतना मान!"

"अच्छा, कहो, जो मैं कहूँगी, वह मंजूर करोगे। तभी तुमसे बात करूँगी।"

"लाल! क्या तुम्हें मेरा भरोसा नहीं है?"

"बोलो, सब बातें मानोगे, तब आगे बात होगी।"

"हाँ, मंजूर है।"

"तो सुनो, शेखजी के उस तालाब में यदि हम-तुम दोनों नहावें, तब हमारे अरमान पूरे होंगे, ऐसा कहते हैं। चलो न आज ही।"

"इसमें क्या बात थी, जो इतनी हिचकिचाहट हुई तुम्हें?"

"केवल इतनी ही बात और कहना रह गई कि हमें नंगे नहाना पड़ेगा।"

"यह बात है ?" फिर बादशाह ज़रा रुककर बोले—"अगर चलना हो, तो चलो न अभी।"

कुछ देर बाद सम्राट् तथा लालकुँवरि स्नान के लिए पहुँचे। दिल्ली के सम्राट् और उनकी प्रेयसी के साथ तब एक-दो साथियों तथा बाँदियों के अतिरिक्त और कोई न था।

× × ×

संध्या हो गई थी। सारी दिल्ली असंख्य बत्तियों की रोशनी से जगमगा रही थी। आज घी के दिए जल रहे थे। चाँदनी चौक आलोकित हो रहा था। दिल्ली निवासियों पर एक अनोखा पागलपन छा रहा था। बरसों बाद राग-रंग के दिन आए थे। उस मादक संध्या को, जब चाँदनी चौक में चहल-पहल हो रही थी, सम्राट् तथा उनकी प्रेयसी लालकुँवरि एक रथ में बैठकर वहाँ आ पहुँचे। सारा दिन स्नान में तथा विभिन्न बाग़-बग़ीचों में विहार करने में बीता था। संगीत तथा चुलबुलाहट-भरे उस मदमदाते जीवन के बाद सम्राट् प्रेयसी को लिये बाज़ार में सौदा करने निकले।

रथ घूमता हुआ एक कुँजड़िन की दूकान पर ठहरा। कुँजड़िन का नाम ज़ोहरा था। इस कुँजड़िन की लालकुँवरि से मित्रता थी। शाही रथ को देखकर वह दौड़ी आई।

"कहो ज़ोहरा! क्या-क्या सौदा बेच रही हो ?"

"हुज़ूर! कौनसी चीज़ मेरे पास है जो नज़र करूँ ?"

"ज़ोहरा! नख़रे न करो। जहाँपनाह को तुम्हारी इन

ककड़ियों का बड़ा शौक़ है। वे मतीरे भी तो बड़े स्वाद वाले हैं। हाँ, अनार भी तो होंगे। शरबत के लिए बेदाना अनार चाहिए।"

"हुजूर! सारी दूकान ही आपकी है जो पसन्द हो, रथ में रख दूँ।"

"नहीं, रथ में नहीं, किले ही भिजवा देना। अब हम चलेंगे। ज़ोहरा! अगर अच्छे फल न भेजे तो लाल तुमसे ख़फ़ा हो जायगी।"

"जहाँपनाह! हुजूर की ही बाँदी हूँ। तो क्या कुछ भी जल-पान न करेंगे?"

"नहीं ज़ोहरा! हम जायँगे, बहुत-सा काम है।"

"बाँदी आदाब करती है।"

रथ चल पड़ा, और बादशाह कुछ अचकचाकर बोले—"लाल! सौदा तो ले लिया, लेकिन उसके दाम न दिये। उसे कुछ मोहरें तो दे दो। ओ! रथवान! ज़रा ठहरना।"

"दिल्ली के सम्राट् सौदा लेने जायँ, और बदले में दें कुछ सोने के टुकड़े! क्या जहाँपनाह हमेशा बेचारी ज़ोहरा के यहाँ से फल नहीं मँगवाते?" तिरस्कार के साथ लालकुँवरि ने कहा—"अगर कुछ देना ही है, तो क्यों न एक जागीर दे दी जाय। बादशाह की कुँजड़िन को भी कुछ इज्ज़त अवश्य चाहिए।"

रथ रुक गया। लालकुँवरि ने बाँदी से ज़ोहरा को बुलवाया। घबड़ाई हुई ज़ोहरा फिर आई।

लालकुँवरि ने कहा—"ज़ोहरा ! बादशाह ने खुश होकर तुम्हें जागीर दी है, और मनसब भी दिया है। अब तुम पालकी में बैठकर किले आ सकोगी।"

"बाँदी दोनों हुज़ूर का शुक्रिया अदा करती है। मुझ नाचीज़ पर इतनी मेहरबानी !"

रथ एक बार फिर चलने को हुआ। लालकुँवरि ने अपनी बाँदी से कहा—"तू यहीं उतर जा। क़िले चली जाना। हम घूम-घाम कर बाद में चले आवेंगे।" बाँदी उतर पड़ी। रथ रवाना होगया। बाँदी स्तंभित खड़ी ताकती रही।

× × ×

इस बार घूमता-घामता रथ एक गली में पहुँचा। उस जग-मगाती हुई दिल्ली का यह कोना मनहूस-सी सूरत बनाये अँधेरे में ही जीवन बिता रहा था। उस अँधेरे को और उस गली को ऊबड़-खाबड़ देखकर लालकुँवरि को ताव आ गया। रथवान को रथ रोकने की आवाज़ देकर बादशाह से बोली "हुज़ूर आली ! देखिये, दिल्ली के ये मुए आज-जैसी ख़ुशी के दिन भी मातम मना रहे हैं। कौनसा कारूँ का ख़ज़ाना लुटा जा रहा था, जो उनसे अपने घर के सामने दिए भी न जलाये गए !"

बादशाह चुपचाप सुनते रहे, बाद में धीरे से बोले—

"लाल ! इस झंझट के मारे मैं हैरान हो जाता हूँ। यह कौन-सी दिन-रात की आफ़त—आज यह नहीं हुआ, कल वह करना बाकी रह गया। दिल्ली के तख़्त-ताऊस पर बैठकर भी यहसब

बेगार करनी ही पड़ेगी क्या ? अगर दिए न जलाये, तो तुम्हीं क्यों न इसका प्रबंध कर लो। तुम्हारी ही देख-रेख में तो ये सारे उत्सव मनाये जा रहे हैं।"

लालकुँवरि को तैश आगया। फौरन रथ वाले को आवाज़ दी कि उस घर के मालिक को बुलावे। काँपता-काँपता एक बुड्ढा हाज़िर हुआ, जिसके पहनने को पूरे वस्त्र भी न थे। वह घबरा रहा था। रथ के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

"क्यों, तुम कैसे बदतमीज़ हो कि दिल्ली के बादशाह के सामने नंगे-बदन हाज़िर हुए हो ?"

"हुजूर ! हुजूर ! कपड़े कहाँ से लाऊँ ? बड़ी मुश्किल से गुज़र चल रहा है।"

"इतना दिमाग़ तुम्हारा कि लालकुँवरि से हुज्जत करो !" और रथवान की ओर मुड़कर जूते लगाने को कहा।

बूढ़ा पहले ही घबरा रहा था, जूते खाकर तो तिलमिला उठा। अब भागने की सोची, परंतु लालकुवँरि ने हुक्म दिया कि उसे पकड़कर लाया जाय; जब हाज़िर किया गया तो वह फिर तमक कर बोली—"बुढ़ऊ ! ये दिमाग़ तुम्हें कहाँ ले जायँगे ? पहले तो बादशाही हुक्म की अदूली की, और उस पर बुलावें तो सुने नहीं ?"

बूढ़ा रो पड़ा, पाँव पकड़ने लगा, घिघिया कर बोला—"हम बेचारों की क्या हिम्मत कि हम सरकार के हुक्म को न मानें !"

"तब आज तुम्हारे घर पर अँधेरा क्यों है ? क्या तुम्हें

मालूम नहीं कि आजकल बादशाह जहाँदारशाह की तख़्तनशीनी का जशन हो रहा है ?"

"हुजूर ! हम बेचारों के पास तेल कहाँ, जो दिए जलावें ।"

"तेल ! तेल ! जिसे देखो वही कहता है कि तेल नहीं है, मगर मैंने यह हुक्म दिया था कि घी के दिए जलाये जायँ। क्यों बे ! आज सारे शहर में डौंड़ी पिटवाई गई थी न; क्या कान फूट गए थे जो नहीं सुनी ?"

"हुजूर, घी कहाँ से लाऊँ ? यहाँ खाने को धान भी तो नहीं मिलता !"

बहुत बात हो चुकी थी। लालकुँवरि ने लात मार दी। बेचारा बूढ़ा गिर पड़ा। रथ फिर चल पड़ा।

"इसी शाहंशाही आफ़त के मारे ही तो मैं क़िले से भाग निकलता हूँ," बादशाह ने धीरे से कहा।

"ये सब कुत्ते बादशाह की नहीं सुनते सो नहीं सही, अब मेरा भी हुक्म नहीं मानते ।"

"रहने दो लाल ! ये सब बातें भुला दो। अब तो गुलबानू की दूकान आती होगी। कब तक यह सिर-फोड़ी करोगी, कुछ वक्त तो हंसी-खुशी में बितावें !"

लालकुँवरि चुपचाप सुनती रही।

× × ×

और शीघ्र ही गुलबानू की दूकान के सामने शाही रथ रुक गया। दिल्ली की एक गली में, अजमेरी दरवाज़े के पास ही

कोने में गुलबानू की दूकान है। उस अँधेरी गली के कोने पर यहीं चिराग़ जल रहे थे, और उस अँधेरे को अधिक बढ़ा रहे थे। एक पहर के लगभग रात बीत चुकी थी। गली में आने-जाने वालों की भीड़ कम होने लगी थी। रथ को रुकता देखकर गुलबानू निकली, और पूछा—

"किसका रथ है?"

"गुलबानू, अब तुम काहे को हमें याद करोगी?" रथ से निकलती हुई लालकुँवरि बोली।

"लाल! तुम यहाँ कैसे?"

"घबराओ न गुल! मेरे साथ दिल्ली के बादशाह भी तो आये हैं"; और फिर रथ की ओर देखकर लालकुँवरि बोली, "हुज़ूर! आइए न, यहाँ तो सब अपने ही हैं, कोई ख़याल न कीजिएगा।"

"बादशाह सलामत और मुझ नाचीज़ की दूकान पर!" अचकचाकर गुलबानू बोली—"अब क्या करूँ?"

"गुल! तुम तो अब भी निरी उल्लू-की-उल्लू रही। बादशाह कौनसे हौआ हैं जो तुम इतना डर रही हो," धीरे से लाल ने कहा।

बादशाह रथ से उतर चुके थे, और जब लालकुँवरि के पास पहुँचे, तो गुल बोली—"बाँदी दिल्ली के बादशाह को आदाब करती है।"

"यहाँ भी यही सब कुछ लाल! क्या इससे कहीं भी पीछा

न छूटेगा ? जिससे घबराकर हम यहाँ आये, वह आफ़त तो यहाँ भी सामने मिली," जहाँदारशाह ने ज़रा खिन्न होकर कहा।

"नहीं हुज़ूर ! गुल से तो कहे बिना कैसे होता, परन्तु यहां कोई भी बात न होगी। मैं सब इंतज़ाम किये देती हूँ।" गुलबानू को एक ओर ले जाकर लालकुँवरि ने कान में कुछ कहा, और तब तीनों उस दूकान में पहुँचे।

गुलबानू लालकुँवरि की बचपन की सखियों में से एक थी। अब वह दिल्ली में शराब की दूकान चलाती थी। यहाँ दूर-दूर तक के पियक्कड़ इकट्ठे होते थे और गुलबानू की दूकान दिल्ली के दक्षिणी हिस्से में एक विशेष स्थान रखती थी।

नीची छत और वह भी सीधी-सादी जहाँ-तहाँ धुएँ से काली हो गई थी। बादशाह ने दरवाज़े में घुसकर इधर-उधर नज़र डाली। एकाध पियक्कड़ को पड़े देखकर उन्होंने लाल की ओर देखा। गुलबानू बोली—"हुज़ूर, ऊपर चला जाय। बादशाहों से क्या अर्ज़ करूँ, परन्तु ऊपर के कमरे में सब प्रबन्ध हो जायगा।" सकड़ी सीढ़ियों से होकर बादशाह ऊपर के दालान में पहुँचे। वहां एक लम्बे-से दालान में सफ़ेद फ़र्श बिछा हुआ था, एक कोने में मसनद लगी हुई थी, ख़स की तेज़ महक भरी हुई थी। मसनद के पास ही एक चाँदी मढ़ी तिपाई पर कुछ बोतलें तथा एक झारी रक्खी हुई थी, कुछ प्याले भी धरे हुए थे। दीवार पर चारों कोनों में धीमी रोशनी-

वाली मोमबत्तियाँ जल रही थीं। बादशाह ने जाकर मसनद के सहारे आसन लगाया, लालकुँवरि पास बैठ गई। प्याले सामने आये और भरे गए। लालकुँवरि ने गुलबानू की ओर देखकर कहा—"गुल ! कुछ गाना भी हो न ?"

"हुजूर ! इस गली में कहां अच्छे गानेवाले मिलेंगे !"

"कैसे भी हों, बुलवाओ ज़रूर। अगर अच्छे गवैयों को ही सुनना होता तो यहां क्यों आते ? शराब के दौर के साथ कुछ नाच-गान भी तो होना चाहिए।"

"जैसी मरज़ी।" गुलबानू उठकर प्रबन्ध करने चली। इधर बादशाह ने कहा—

"कहो लाल ! क्या खूब रही ! इस जीवन में भी कुछ लुत्फ़ ज़रूर है। जो मज़ा यहां के इस प्याले में है, वह किले में सदियों पुरानी बोतलों में भरी, बरफ से ठंडी की हुई शराब में कहाँ ? और यहाँ कौन जानता है कि हम-तुम कौन हैं ? कोई यह कहनेवाला भी तो नहीं कि यह अच्छा है या बुरा; इससे शाही तहज़ीब में ख़लल पड़ता है। उस जिंदगी से उकता कर ही तो मैंने तुमसे आज वहाँ से भागकर कहीं अनजाने स्थान में ही शाम बिताने को कहा था।"

"हां हुज़ूर ! मुझे मालूम था कि यहां सब इन्तज़ाम हो जायगा, और किसी को भी पता न लगेगा; तभी तो हुज़ूर को यहां लाई हूँ। रही गुलबानू की बात, सो वह किसी से न कहेगी।"

"ख़ूब ! ख़ूब ! इसी बात पर एक-एक प्याला भरा जाय।"

लालकुँवरि ने शराब प्यालों में ढाली।

शीघ्र ही सीढ़ियों पर पैरों की आवाज़ सुन पड़ी, और गुलबानू के पीछे-पीछे एक रंडी मय सारे साज़ के दालान में आती नज़र आई।

"आदाब! अदाब" के बाद स्वर मिलाये गए, तबला खड़का, सारंगी के तार झनझना उठे, और उस रंडी ने ख़रखराते हुए गले से गाया—

उफ़्, तेरी काफ़िर, जवानी जोश पर आई हुई।

तीन-चार प्याले पी चुके थे; पुनः आज दिन-भर की थकावट से बादशाह कुछ बदहवास हो रहे थे। गाने की इस तान को सुनकर एक बार फिर प्याला ढाला, और कुछ चबेना चबाते हुए बोले—

"लाल! कहो अब भी मुझमें वही पुरानी मस्ती है न जो बार-बार उस मस्ताने जोबन की याद दिलाती है।"

"हुज़ूर! इन पके हुए बालों को देखकर भी यह कैसे मानूँ?"

"पके हुए बाल, लाल! खूब कही! तुम्हें यह कैसे मालूम हुआ?"

"वाह हुजूर! क्या मुझे यह भी पता नहीं है कि हुजूर ख़िजाब करते हैं?"

"ख़िजाब-हिजाब से क्या होना है लाल! यह तो दिल की बात है! देखो न, यही गानेवाली तो कह रही है—

'सिर से पांव तक छाई हुई'

"क्या दिल उसमें नहीं आता है ?"

लाल हँस पड़ी, और पुनः प्याला ढालती हुई बोली—"ख़ूब !" और रंडी की ओर देखकर बोली—"ख़ूब शेर कहा, एक बार फिर सही ।"

बादशाह ने प्याला उठाया, ओठों तक लगाया, एक सांस में पी गए, और अस्फुट ध्वनि में फिर बोले—"लाल ! यह दिल की...."; लाल ने बादशाह की ओर देखा, वह झूम रहे थे; उनकी ओर कुछ देर तक देखती रही, और उस अधूरे वाक्य को सुनकर कुछ सोचने लगी, फिर धीरे से उठकर गुलबानू को एक ओर ले गई और बोली—"गुल ! अब देर हो रही है, बादशाह को भी नींद आ रही है, गानेवालों को अब रवाना कर दो ।"

शीघ्र ही पुनः उस दालान में निस्तब्धता छा गई । बादशाह आँखें बन्द किये मसनद के सहारे बेहोश पड़े थे । जब सबको रवाना करने के बाद गुलबानू ऊपर आई, तो लालकुँवरि ने कहा—"गुल ! अब तो चलेंगे । हाँ, बादशाह को किस प्रकार नीचे ले चलेंगे ?"

"क्यों, क्या बेहोश हो गए हैं ?"

"हाँ। जब पीने लगते हैं, तब यही हो जाता है । ५० बरस की यह उम्र और उस पर उस मस्ताने जोबन की वह हविस ! रथवान तो होगा न, उसे ही ऊपर बुलाओ ।"

"परन्तु लाल ! वह भी तो शराब पी रहा था। उसने माँगा, तो कैसे नाहीं करती, उससे तो यह होना मुश्किल है। देखो नीचे जाकर और किसी को बुलाकर लाती हूँ।"

"गुलबानू ! देखो, यह बात किसी को मालूम न होने पावे।"

"लाल ! जब तुम जा ही रही हो तो थोड़ी देर हो जाय तो क्या ! आई हो तो एकाध प्याला और पी लो, अच्छी शराब भी मेरी दूकान में है; और कौन तुम रोज़-रोज़ मेरे यहाँ आने वाली हो। अब तो लाल क़िले में रहने वाली ठहरी ?"

"गुल ! मैं नाहीं नहीं करती, परन्तु देखो, जल्द जाना है, फिर पहले भी पी चुकी हूँ।"

"लाल ! यह न होगा। एक-आध प्याला ही सही, बड़ी बढ़िया शराब है। चखोगी, तो फिर लाल किले में भी इसी को याद करोगी। कहती हूँ, फिर वहाँ भी मेरी ही दूकान से मँगाओगी। मैंने पहले नहीं निकाली कि बादशाह सलामत उस नशे में उसकी परीक्षा न कर सकेंगे; व्यर्थ बोतल ख़राब करने से क्या फ़ायदा ?"

बादशाह गहरी नींद में पड़े रहे, और उधर प्याले भरे जाने लगे। लालकुँवरी ने एकाध प्याला गुलबानू को भी पिलाया।

"तो अब जाऊँगी, रथ मँगवाओ।"

"हाँ, अभी सब प्रबंध किये देती हूँ।"

शीघ्र ही गुलबानू एक हट्टे-कट्टे, लम्बे-चौड़े, काले हबशी को लिये आई, और बादशाह की ओर उँगली करके बोली—

"अबे ! उस पियक्कड़ को उठाकर नीचे जो रथ खड़ा है, उसमें डाल आ। ये मुए न-जाने क्यों इतना पी जाते हैं, जो उठवाकर भेजना पड़ता है।"

"बिलकुल बेहोश पड़ा है," उस हबशी ने उठाते हुए कहा— "कोई नवाब जान पड़ते हैं।"

"तुझे इससे क्या, होंगे अपने घर के नवाब, मेरी इस दूकान में किस की क्या हस्ती ! दिल्ली का बादशाह भी आकर पड़ रहे, तो उसे भी इसी प्रकार फिकवा दूँगी।"

"हबशी बादशाह को उठाकर चला, और पीछे गुलबानू के साथ लड़खड़ाती हुई लालकुँवरि आने लगी। सीढ़ी उतरते-उतरते गुलबानू बोली—"लाल ! बुरा न मानना यह सब इसी-लिए कहा कि इन मुओं को कुछ खबर न पड़े।"

"गुल ! तुम भी क्या बात करती हो, ये बदनसीब शाहज़ादे और बादशाह, सब ऐसे ही हैं। इनमें धरा क्या है ? नहीं तो........" लालकुँवरि लड़खड़ा रही थी, दीवार सम्हालने लगी।

"रथ में डाल दिया ?" नीचे उतरकर गुलबानू ने हबशी से पूछा।

"जी।"

"ऐ रथवान ?" लालकुँवरि ने कहा।

"जी मलका साहबा ?"

"अब चलो लाल क़िले। रास्ता तो जानता है ?"

"क्यों नहीं। वहीं से तो हुज़ूर और बादशाह सलामत को लाया था। दो प्याले पीकर ही क्या दिल्ली के रास्ते भूल जाऊँगा ?"

"तो अब चलो गुल !" लालकुँवरि ने रथ का परदा डालते हुए कहा, "सिर चक्कर खा रहा है। गुल, अब फिर कभी क़िले आना। यह लो मेरी अँगूठी; इसे बताना, तो तुम्हें आने देंगे। वहीं फिर बात करेंगे।"

आधी रात को दिल्ली की गली में एक बार फिर रथ चला; सम्राट् और उनकी प्रेयसी को लिये क़िले के लिए रवाना हुआ। सम्राट् बेहोश थे; उनकी प्रेयसी मस्त पड़ गई, उसे नींद आ गई, और गाड़ीवान भी मतवाला बना चला जा रहा था।

× × ×

"क्यों जी ! कुछ सुना ?"

"क्यों ?"

"देखो, बहुत ही ख़ानगी बात।"

कान के पास मुँह ले जाकर सिपाही अपने साथी से बोला —"बादशाह सलामत खो गए।"

"बादशाह खो गए !" आश्चर्य के साथ वह साथी चीख पड़ा।

"ज़रा धीरे बोल भाई ! सचमुच खो गए। अब उनकी तलाश हो रही है।"

"हिन्दोस्तान के बादशाह खो गए ! दिल्ली में खो गए ! नहीं

भाई, कुछ समझ में नहीं आता। कल शाम को चाँदनी चौक में ज़ोहरा की दूकान पर तो उन्हें देखा था।"

"तो यह भी कोई दिल्लगी है, जो तुमसे झूठ कहूँगा ! ख़ुदा की क़सम, बिलकुल सच बात है।"

× × ×

"ए री, सच तो बता, बादशाह सलामत हैं कहां ? क्या लालकुँवरि के महल में नहीं हैं ?" खोजे ने डपट कर बाँदी से कहा।

"मुझे क्यों लाल-पीली आंखें दिखा रहे हो ? मैं क्या जानूँ, बादशाह सलामत कहाँ हैं ? न-जाने कहाँ-कहाँ मलका के साथ गलियों में घूमते फिरते हैं, और न मिलें, तो मुझसे पूछो। जाओ, पूछो मलका से। रथ में बेहोश पड़ी थीं, उन्हें तो मुश्किल से उठाकर ले आई। मलका, बादशाह, इन सबको अपनी फ़िकर नहीं। हम बाँदियों के सिर यह नया काम कि दिल्ली के बादशाह की भी फ़िकर करें, और सम्हालें कि कहीं खो न जायँ !"

"नालायक़, बदज़ात,' कहकर खोजे ने दो चपतें बाँदी के लगाईं, "इसके हौसले देखो, मलका को गालियां देती है।"

बाँदी रोती बड़बड़ाती चली गई।

खोजे ने जाकर खोज की; लालकुँवरि के महल में भी बादशाह न मिले। लालकुँवरि अब भी सो रही थी। बाँदी ने जाकर जगाया; अर्ज़ की—

"हुजूर, बादशाह सलामत का पता नहीं लग रहा है। सारे लाल क़िले को खोज डाला, कहीं भी न मिले।"

"बादशाह सलामत? क्यों क्या कल नहीं लौटे? रथ में सुलाकर तो मैं लाई थी उन्हें।"

"हुजूर, हमें नहीं मालूम। बाँदी कहती है कि रथ से अकेले हुज़ूर को ही उतारा; उसे बादशाह सलामत का कोई पता नहीं।"

"मुझे रथ से उतारा, कुछ याद नहीं पड़ता। गुलबानू ने बादशाह......" कुछ रुककर "हां-हां, बादशाह मेरे साथ लौटे तो थे। फिर?"

"कुछ मालूम हो तो बादशाह सलामत को ढूँढ़ें।"

"मुए दिल्ली के बादशाह सलामत को ढूँढ़ने चले हैं! ज़रा बुलाओ तो न्यामत को।"

× × ×

"न्यामत भाई, देखो तो बादशाह सलामत का पता नहीं लग रहा है।"

"हां, कुछ मैं भी ऐसी ही गड़बड़ सुन रहा हूँ।"

"देखो, कल रात हम घूमने गये थे। रथ में अकेले थे। मैं भी सो गई थी; अब तो रथवाले से पूछने से ही पता चलेगा।"

"हाँ, अभी पूछता हूँ। परन्तु मेरी सनद की जल्दी करना।"

"सनद-सनद मचा रक्खी है! बादशाह का पता चले तो वह सूबेदारी दें। कल कहीं मुआ मर गया, तो फिर क्या करोगे?"

"अबे रथवाले, हरामजादे, नींद में ऐसा पड़ा है जैसे दिल्ली का बादशाह हो। क्या रात को नशा कर लिया था ?" इतनी आवाज़ देने पर भी जब रथवान न बोला, तो न्यामत ने दस-पाँच गालियाँ देकर उसे दो लातें लगाईं।

रथवान हड़बड़ा कर उठा और सिर पर पगड़ी रखने भी न पाया कि न्यामत ने उसकी गर्दन पकड़ी और पूछा—"साले, बता न बादशाह सलामत को कहाँ डाल आया ?"

"मैं क्या जानूँ हुज़ूर ! लाल क़िले पहुँचा आया था।"

"क़िले में तो नहीं हैं, गये कहां ? कहीं रास्ते में तो नहीं गिर गए ?"

"नहीं हुज़ूर ! सरकार लोगों की सवारी में कहीं ऐसी ग़फ़लत हो सकती है ?"

"तो आख़िर जहांपनाह का पता लगे कहाँ ?"

"तो क्या सरकार लाल क़िले में नहीं उतरे ?"

"उतरे होते तो यह रोना-धोना क्यों मचता ? तुझ-से मुए के घर मैं आता ? नहीं पहचानता मुझे ? मैं 'मुलतान का सूबेदार' हूँ।"

"हुज़ूर को न पहचानूँगा तो जाऊँगा कहाँ ? हुज़ूर ! बादशाह सलामत रथ में तो सो रहे थे, अगर क़िले में नहीं उतरे तो......"

"रथ कहाँ छोड़ा ?"

"हुज़ूर, अस्तबल में।"

"देखिये हुज़ूर ! मैंने ठीक कहा था न कि मैं ऐसी ग़फ़लत थोड़े ही कर सकता हूँ कि सवारियां रास्ते में उतर जायँ या गिर पड़ें और मुझे पता न चले। देखिए, बादशाह सलामत तो रथ में ही लेटे हुए हैं।"

"क्या ख़ूब !" न्यामत बोला—"दिल्ली के बादशाह लापता और मिलें सरकारी अस्तबल में रथ में पड़े हुए ! उन्हें सम्हाल कर उतारनेवाला भी कोई न मिला ?"

बादशाह जहाँदारशाह पड़ा ख़र्राटे ले रहा था; बेख़बर सो रहा था। उसे जगाते हुए न्यामत ने कहा—"जहाँपनाह ! हुज़ूर तो यहां लेटे हुए हैं और मुझे अभी तक मुलतान की सूबेदारी की सनद नहीं मिली !"

अँगड़ाई लेकर बादशाह ने करवट ली, और आंखें मसलते हुए उठे और बोले—"क्या कहा ? सनद ! मैं सनद देनेवाला कौन ? तुम ? यह कौनसी जगह है !......हैं" और कुछ देर के बाद—"अरे, अब याद आई ! मैं दिल्ली का बादशाह जहाँदार...हाँ, परन्तु यहाँ सरकारी अस्तबल में......अभी तो सुबह हुई है न ?"

"हाँ हुज़ूर !" न्यामत बोला, "जहाँपनाह आज खो गए थे; इस सरकारी अस्तबल में हुज़ूर का पता लगा।"

[जुलाई, १९३५ ई०

कविवर प्रसादजी के कुछ संस्मरण

"जरा किवाड़ खोलकर देख तो सही कि आज इस बेवक्त कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है ?"—प्रसादजी ने आश्चर्य-भरी आवाज़ में नौकर से कहा।

सन् १६३५ ई० का साल था। १६ मई को दोपहर के समय अपने पुराने मकान में लकड़ी के तख्त पर एक तैमद बाँधे, एक पतला-सा कपड़ा शरीर पर डाले प्रसादजी नींद को बुलाने का प्रयत्न कर रहे थे। लू चल रही थी एवं किवाड़ बंद थे, फिर भी गर्मी के मारे उन्हें नींद नहीं आ रही थी; पसीना टपक रहा था, जी घबरा रहा था, आँखें बन्द कर-कर खोल रहे थे और बनारस की गर्मी को कोस रहे थे। उसी समय कोई ढाई बजे जब किसी ने उनके उस पुराने मकान का दरवाजा खटखटाया तब तो प्रसादजी चौंक पड़े और नौकर को आवाज़ दी।

"इस समय भरी दोपहरी में कौन आया होगा ?" किवाड़ खोलते हुए नौकर कहने लगा, "लू लगकर आज तो दो-तीन पुलिस के सिपाही भी तो मर गए हैं।"

उस भरी दोपहरी में बनारस की तमतमाती हुई लू में राय

कृष्णदासजी, डाक्टर मोतीचन्द चौधरी के साथ एक अपरिचित नवयुवक को अपने दरवाज़े पर खड़ा देखकर प्रसादजी अचकचा गए। "इस वक्त......" प्रसादजी पूछ न सके। रायसाहब ने आगे बढ़कर प्रसादजी से मेरा परिचय कराया।

× × ×

अपने उस कौतूहलपूर्ण कौमार्य में जब हाथ लगने पर प्रत्येक पुस्तक को पढ़ डालने की उतावली होती थी और जब कहानियों, उपन्यास और नाटकों के लिए विशेष आकर्षण होता था—और आज भी यह आकर्षण किसी भी प्रकार घटा नहीं है—जब उनके कथानक एवं घटना-वैचित्र्य की ओर ही दृष्टि रहती थी, उन ग्रन्थों के लेखकों से कोई काम नहीं रहता था, तब अनजाने ही मैंने प्रसादजी के 'अजातशत्रु' नाटक को पढ़कर रख दिया था। आज मुझे इस बात का स्मरण नहीं कि वह नाटक उस समय कैसा भाया था; बाद में उसकी कोई भी स्मृति बाकी नहीं रही थी, केवल यही याद रहा था कि 'अजातशत्रु' नामक कोई नाटक पढ़ा अवश्य था। उन्हीं दिनों 'विशाख' भी छपा था, उसकी प्रति भी हाथ लगी थी; परन्तु वह शुष्क प्रतीत हुआ और जब उससे मनोरंजन नहीं हुआ तो उसे अधूरा ही छोड़ दिया। प्रसादजी की महत्ता, उनकी कृतियों की साहित्यिक श्रेष्ठता एवं व्यक्तिगत-रूपेण उनको जानने की उत्सुकता तब हृदय में स्थान नहीं पा सकी; उनका ख्याल भी नहीं आया।

किन्तु, जब बरसों बाद सन् १९२७ में खड़ी बोली के कट्टर

विरोधी एवं उसके साहित्य को तुच्छ समझने वाले भी 'सुधा' के प्रथम अंक में समालोचक द्वारा उद्धृत 'प्रसाद' के 'आँसू' के कुछ छन्दों को पढ़कर उस कवि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके, तब तो सहसा प्रसादजी के प्रति श्रद्धा का संचार हुआ और उनके 'आँसू' को अनेक बार पढ़ा। नवयुवकों के जीवन में एक वह समय आता है, जब वे प्रेम के प्यासे होते हैं, दूसरों का प्यार पाने को ललचाते हैं, उसके लिए भरसक प्रयत्न करते हैं; जब उनकी नन्हीं-नन्हीं छातियों में भावुकता का सागर हिलोरें मारता है, उनका छोटा-सा दिल, छोटी-छोटी-सी बातों से ही आहत हो जाता है; जब अपने दिल की बात दूसरों से कहने को, अपने छोटे-से महत्त्वहीन रहस्यों को भी दूसरों को बताने के लिए वे तड़पने लगते हैं; जब अपने प्यारों से वियोग की आशंका-मात्र से ही जी तड़प उठता है, एकबारगी गला रुँध जाता है, आँखों में आँसू छलछला आते हैं और जी भी अनमना हो जाता है; तब जिस जल्दी के साथ मित्रता होती है, कुछ ही क्षणों में पुनः अभिन्न-हृदयता स्थापित हो जाती है, एक-दूसरे में प्रगाढ़ विश्वास पैदा हो जाता है, उतने ही वेग से शत्रुता भी ठन जाती है, बिना किसी कारण-विशेष के ही एक-दूसरे में खिंच जाती है, जीवन-भर के लिए मनोमालिन्य-सा होता जान पड़ता है; जब ज़रा-ज़रा-सी बात पर रूठने में हिचक नहीं होती और जब मानने में भी देरी नहीं लगती; उसी भावुकतापूर्ण काल में 'आँसू' के छन्दों ने मेरे दिल पर गहरा रंग

जमाया और जो छाप उस समय दिल पर बैठी, वह आज भी मिटी नहीं। अब भी जब कभी जीवन में सूनेपन का-सा अनुभव होता है, जी अनमना हो जाता है, पहलू में कुछ तड़प-सी मालूम होती है; प्रेम में जब विरक्ति का संचार होता है और दूसरों की बेरुखी एवं उनकी वह स्वार्थ-भावना जब दिल पर चोट पहुँचाती है, तब अनजाने ही आँखों में आँसू भर आते हैं, होंठ आप-ही-आप कहने लगते हैं—

अवकाश भला है किसको सुनने को करुण कथाएँ;
बेसुध जो अपने सुख जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ।

और जब दिल आँसू का एक घूँट पीकर संतोष कर लेता है, तब 'आँसू' की कुछ पंक्तियाँ ही दिल को तसल्ली देती हैं।

यही कारण था कि अपने मित्रों को भी अपनी प्यारी वस्तु भेंट करने को जी चाहने लगा था, एवं तब 'आँसू' की कई प्रतियाँ मँगवाकर उन्हें अपने मित्रों में बाँटा, उनके सम्मुख उस कवि की भावुकता की व्याख्या की, अपने दिल पर होने वाले प्रभाव एवं शान्ति को भी पूरी तरह बताया। उस सब प्रचार का क्या प्रभाव हुआ, किसने प्रसादजी की कद्र की, किन-किन दिलों को प्रसादजी के 'आँसू' द्रवित कर सके या शान्ति-सुधा पिला सके, यह जानने की बिलकुल ही इच्छा नहीं हुई। तब भी था और आज भी मेरा यही मत है कि प्रसादजी के 'आँसू' का भारतीय साहित्य में बहुत ही उच्च स्थान है। यह हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि और उस कवि की एक अमर

कृति है। ऐसी सुन्दर कृति का वह साधारण गेट-अप देखकर खेद होता है। उसका दूसरा संस्करण अधिक अच्छा छपा है; परन्तु उसे भी किसी तरह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। मुझे तो उससे भी असंतोष है। उमर खैयाम के सुन्दर सजे हुए सचित्र संस्करण देखकर 'आँसू' को भी वैसे ही सचित्र स्वरूप में देखने को जी ललचाता है। प्रसादजी के उस अमर काव्य के एक-एक पद पर कई एक सुन्दर भावपूर्ण चित्र बन सकते हैं।

× × ×

किन्तु, इतना सब होने पर भी प्रसादजी की अन्य कृतियों के प्रति विशेष आकर्षण नहीं हुआ; उनकी कहानियाँ और उनके नाटक पढ़े जाने पर भी वे स्वयं मेरे लिए अज्ञात वस्तु ही रहे। सन् १९२८ के जनवरी मास में 'सरस्वती' का प्रथम और साथ-ही-साथ शायद अन्तिम वार्षिकांक निकला। उसमें प्रसाद-जी की 'आकाशदीप' कहानी को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया था। प्रेमचन्दजी उस समय तक मेरी श्रद्धा एवं आदर के पात्र बन चुके थे, अतएव उनसे भी पहले प्रसादजी की कृति को स्थान पाते देखकर आश्चर्य हुआ। 'आकाशदीप' को एक-दो बार पढ़ा; परन्तु उस समय न तो उस प्रकार की कहानी की सुन्दरता एवं उसके कथानक के तारतम्य को समझने की बुद्धि ही थी और न उसके लिए प्रयत्न करने का धैर्य ही। 'सरस्वती' द्वारा उक्त कहानी को सर्व प्रथम स्थान दिये जाते देखकर प्रसादजी के प्रति श्रद्धा अवश्य बढ़ी, परन्तु तब भी उनकी महत्ता को नहीं

समझ सका। वे तब भी जन-समाज के कहानी लेखक नहीं बन पाये थे। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ इसी कारण भावपूर्ण एवं सुन्दर होते हुए भी साधारण पाठकों के मनोरंजन की वस्तु नहीं बन सकीं। बरसों बाद जब प्रसादजी ने उपन्यास-रचना के लिए हाथ बढ़ाया, तब उनकी कहानी-लेखन-कला में भी कई एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। प्रसादजी की भावुकता, विशिष्ट भाषा-शैली एवं काव्य के प्राधान्य ने तब भी अपना प्रभाव नहीं छोड़ा, किन्तु तब घटना-वैचित्र्य, कथानक में एक अबाध प्रवाह एवं भाषा में सरलता आये बिना नहीं रह सकी। 'आकाश-दीप' और 'आँधी' की कहानियों में पाई जानेवाली विशिष्ट विभिन्नताओं का यही मुख्य कारण है।

× × ×

यद्यपि इधर पिछले चार सालों से मैं यदा-कदा हिन्दी में लेख लिखने लगा था और हिन्दी की ओर मेरा झुकाव भी बढ़ने लगा था; परन्तु सन् १९३० के अन्तिम महीनों में ही मैंने पहली बार प्रसादजी की कृतियों का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त किया। आधुनिक हिन्दी-साहित्य से परिचय प्राप्त करने एवं हिन्दी-गल्प-साहित्य का पूरा-पूरा अध्ययन करने का मैंने निश्चय किया था। तभी मैंने तब तक प्रकाशित प्रसादजी की सब कृतियों को मँगवाया और उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ा। तब जाकर प्रसादजी के महत्त्व का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। प्रसादजी की कहानियों का पूरा-पूरा अध्ययन किया और उसी जोश में मैंने प्रसादजी की

कहानियों के सद्यः-प्रकाशित गल्प-संग्रह 'आकाशदीप' की एक विस्तृत आलोचना भी लिख डाली। उन्हीं दिनों पं० बनारसी-दास जी चतुर्वेदी ने 'आकाशदीप' की आलोचना करते समय 'विशालभारत' में कई ऐसी बातें लिख डाली थीं, जो मुझे तो पूर्णतया ऊटपटाँग ही जान पड़ीं और यह भी ख़याल हुआ कि चतुर्वेदीजी ने प्रसादजी के प्रति अन्याय किया था। तब प्रसादजी की कला एवं उनकी कहानियों के ठीक-ठीक महत्त्व को बताने एवं कूँतने का मैंने प्रयत्न किया था। वह आलोचना 'सुधा' में प्रकाशित हुई थी। उस प्रारम्भिक जोश में लगे-हाथ उस समालोचना की एक प्रति प्रसादजी के पास भेज देने में भी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। परन्तु, जैसा कि प्रसादजी का नियम था, वे अपने गम्भीर मौन को बनाये ही रहे और श्रीयुत विनोदशंकरजी व्यास द्वारा ही यदा-कदा प्रसादजी की कुछ खबर पाकर मुझे संतोष कर लेना पड़ा।

प्रसादजी अपने इस अज्ञात, अपरिचित समर्थक की ओर भी मौन रहे—यह बात दिल को अखरी। परन्तु बाद में प्रसादजी का मेरे प्रति रुख बदल गया और कुछ ही वर्षों बाद, शायद सन् १६३४ ई० से ही, उन्होंने यह नियम बना लिया था कि ज्यों ही उनकी कोई नई पुस्तक छपकर तैयार होती एक प्रति पर अपने हस्ताक्षर कर उसे मेरे पास स्वयं ही भिजवा देते थे। उन्होंने इसमें कभी भूल नहीं की, अपने प्रकाशकों तक को उन्होंने इस बात की हिदायत कर दी थी; एवं कई बार दो-दो प्रतियाँ आ

जाती थीं। प्रसादजी की वे सप्रेम भेंटें मेरी एक अमूल्य निधि हैं। बीमार पड़े थे, स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा था—और वही बीमारी उनकी अंतिम बीमारी हुई—तथापि प्रसादजी ने यथानियम अपने अंतिम एवं सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' की एक प्रति पर अपने हस्ताक्षर कर भेज ही दी। प्रसादजी की इस कृपा को, उनके इस स्नेह को, मैंने आशीर्वाद के रूप में ही स्वीकार किया था।

प्रसादजी अपनी कृतियाँ मेरे पास बराबर भिजवाते रहे; परन्तु वे पत्र कम लिखते थे। इधर पिछले एक-दो वर्षों में ही उनके कुछ पत्र आये थे। वे व्यर्थ के पत्र-व्यवहार से पूर्णतया बचते रहते थे। जो पत्र उनके आते थे, वे बहुत ही संक्षिप्त और नपे-तुले शब्दों के होते थे। प्रसादजी ने इन ऊपरी बातों को कभी महत्त्व नहीं दिया और यही कारण था कि जो व्यक्ति उनसे कभी न मिला हो, उसके हृदय में प्रसादजी के प्रति गलत भावना हो जाना कोई अनहोनी बात न थी।

× × ×

प्रसादजी के समान लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार से मिलने को कौन उत्सुक न होगा! परन्तु प्रसादजी हमेशा बाहरी आडंबर एवं ऊपरी दिखावट से दूर ही रहे, जिससे एक अनजान व्यक्ति के लिए उनके व्यक्तित्व में विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था। यही कारण था कि प्रसादजी से मिलने के लिए मुझे विशेष उत्सुकता नहीं थी। बनारस जाकर भी प्रसादजी से मिलने की न

सोचना हिन्दी-साहित्य से प्रेम रखने वाले व्यक्ति के लिए एक भयंकर अपराध से किसी भी प्रकार कम नहीं था। परन्तु, यही ख़याल जी में घर कर गया था कि प्रसादजी बहुत ही रूखे-सूखे, एकांतसेवी साहित्यिक व्यक्ति हैं। 'आँसू' के लेखक को एक हृदय-विहीन व्यक्ति मानना कुछ असंभव-सा प्रतीत होता था; परन्तु प्रसादजी की वह संस्कृत-प्रधान भाषा और उनके वे बौद्धकालीन नाटक मुझे संस्कृत के कट्टर पण्डितों और मुँडे हुए सिर वाले भिक्षुकों की याद दिलाते थे। उन पण्डितों की वह नीरसता, अपनी विद्वत्ता पर उनका अगाध अभिमान, दूसरों को निरन्तर उपदेश देते रहने की उनकी वह प्रवृत्ति एवं संस्कृत न जानने वालों के प्रति उनका तीव्र तिरस्कार एकबारगी याद आ जाता था। प्रसादजी के व्यक्तित्व के साथ उनका संबंध-सा जान पड़ता था और आप-ही-आप प्रसादजी के पास जाने में कुछ हिचक भी पैदा होने लगती थी।

पुनः प्रसादजी के जो चित्र देखने को मिले थे—श्रीयुत व्यास जी की कृपा से प्रसादजी का एक चित्र उनके हस्ताक्षर समेत मुझे भी प्राप्त हो गया था—उनसे प्रसादजी की गंभीरता ही प्रदर्शित होती थी। प्रसादजी तक पहुंचकर कोई भी मनोरंजन होने की संभावना नहीं देख पड़ती थी। प्रसादजी से मिलने के बाद मेरा यह निश्चित मत हो गया कि प्रसादजी का जो चित्र, उनका जो व्यक्तित्व हमें उनकी कृतियों या उनकी तस्वीरों में देखने को मिलता है, वह उनके सच्चे व्यक्तित्व से बहुत ही भिन्न था। ऐसा

प्रतीत होता है कि अपना चित्र उतरवाते समय प्रसादजी हमेशा Camera Conscious हो जाते थे—चित्र उतरवाने के ख़याल से ही वे गंभीर बन जाते थे। प्रसादजी का वह हँसमुख चेहरा, उनकी वह आनन्द-भरी बातचीत एवं प्रफुल्ल व्यक्तित्व उनसे मिलने वालों एवं उनके परिचितों तक ही सीमित रहा। जिन्हें कभी भी उनसे मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, उनके लिए प्रसादजी के स्वभाव का ठीक-ठीक अन्दाज़ लगाना कठिन ही नहीं, असंभव था।

× × ×

'भारत-कला भवन' को देख चुकने के बाद जब लौट रहे थे, तब राय साहब ने पूछा—"क्या प्रसादजी से मिले हो?"

मैंने जवाब दिया—'नहीं' और साथ ही पूछा भी कि "क्या वे यहीं हैं?"

"प्रसादजी बनारस छोड़कर कहीं नहीं जाते। क्यों न अभी चले चलें?"

सो उस भरी दोपहरी में 'भारत-कला-भवन' से हम सब निकले; कुछ दूर तक मोटर में गये और गली के कोने पर मोटर को छोड़कर प्रसादजी के मकान की ओर पैदल ही बढ़े। दरवाज़ा खटखटाया। जब रायसाहब ने मेरा परिचय कराया, तब तो उन्होंने अपने नये मकान को खुलवाने के लिए नौकर दौड़ाया और हमारा आतिथ्य करने के लिए भी वे प्रयत्नशील हुए। तीसरा पहर हो रहा था; ताजे अनार का शरबत बनवाया गया

और बनारसी पान की गिलौरियाँ भी आईं।

वहीं उस नये मकान में बैठकर कोई दो घण्टे तक बातचीत होती रही। प्रसादजी से मेरी वही प्रथम और अंतिम भेंट थी। उस समय तो कभी यह खयाल भी नहीं हो सकता था कि वह भेंट ही मेरी अंतिम भेंट होगी। प्रसादजी को मेरे 'आकाशदीप' वाले लेख का स्मरण हो आया और उसका उन्होंने उल्लेख भी किया। उसी सिलसिले में मैंने इस बात का प्रयत्न किया कि प्रसादजी से उनके स्वयं के बारे में कुछ बातचीत हो, परन्तु प्रसादजी उसे टाल गए, और विशेषतया मेरे ही बारे में पूछते रहे। रायसाहब ने तब बताया कि किस प्रकार प्रसादजी को मेरे 'ताज', 'एक स्वप्न की स्मृतियाँ' आदि लेख पसन्द आये थे और प्रसादजी ने ही प्रथम बार रायसाहब का ध्यान उन लेखों की ओर आकर्षित किया था।

इधर-उधर की बातचीत होती रही और तब रायसाहब ने इस बात का विशेष आग्रह किया कि प्रसादजी अपने महाकाव्य 'कामायनी' के कुछ अंश मुझे भी सुनावें। 'कामायनी' के कई अंश यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके थे ; उनकी बहुत कुछ प्रशंसा भी हुई थी। जहाँ तक मुझे याद है, उस समय तक 'कामायनी' के नौ सर्ग लिखे जा चुके थे। रायसाहब प्रसादजी से आग्रह कर रहे थे कि वे इस महाकाव्य को समाप्त कर दें और प्रसादजी का विचार था कि जितना भी अंश तैयार हो गया था, उसे ही पहले भाग के रूप में तत्काल छपवा दें। मेरी निजी राय यह थी कि

सारा महाकाव्य एक साथ ही छपे, और यही बात मैंने प्रसादजी से भी कही, तो वे अपनी अस्वस्थता एवं अन्य घरेलू झंझटों का ज़िक्र करने लगे। इस प्रकार 'कामायनी' के बारे में बातचीत होती रही। उस समय भी मेरा निश्चित मत यही था और अब तो वह दृढ़तर होता जा रहा है कि प्रसादजी का यह महाकाव्य इस युग की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। हिन्दी के लिए यह एक सौभाग्य की बात थी कि प्रसादजी अपनी इस महान् कृति को सम्पूर्ण कर गए। इन पिछले वर्षों में कई व्यक्तियों ने खड़ी बोली में अनेकानेक महाकाव्यों की रचना की है; परन्तु उनमें से कितने महाकाव्य स्थायी साहित्य में स्थान पा सकेंगे, यह समय ही बता सकेगा। परन्तु इस बारे में कभी दो मत नहीं हो सकते कि 'कामायनी' को अमर साहित्य में स्थान मिलेगा। वह हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की भी एक अमूल्य निधि है।

'कामायनी' के बारे में बातें होती रहीं और प्रसादजी उसकी हस्तलिखित प्रति हाथ में दबाये बैठे रहे। रायसाहब के आग्रह को वे टाल गए; परन्तु जब मैंने विशेष आग्रह किया, तब उन्होंने सकुचाते हुए उस हस्तलिखित प्रति को खोला और कुछ शब्दों में उसके कथानक को समझाने के बाद वे उस महाकाव्य के प्रारम्भिक अंश को पढ़ने लगे। प्रसादजी पढ़ते जाते थे और हम सब शान्त सुन रहे थे। मैं बैठा-बैठा प्रसादजी को ताक रहा था; उनको निकट से देखने का, उनके व्यक्तित्व को ठीक तरह

जानने और उसका पूर्ण परिचय पाने का अवसर मिला था। कवि के ही मुख से उसी के द्वारा रचे गए महाकाव्य को सुनने का अवसर कितनों को प्राप्त होगा? 'कामायनी' को सुनते-सुनते मुझे अँगरेजी भाषा के महाकवि मिल्टन एवं उसके अमर काव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' का ख़याल आया। प्रलय-प्रवाह में से निकलती हुई पृथ्वी एवं पुनः उसके बसने की कथा भारतीय साहित्य का वह अमर तपस्वी गा रहा था और मैं बैठा सोच रहा था कि मनु का वर्णन करते समय प्रसादजी स्वयं का कितना अच्छा वर्णन लिख गए हैं—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय-सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।

पवित्र भगवती गंगा के किनारे वाराणसी में बैठा वह अवस्था से प्रौढ़ किन्तु कल्पना और भावनाओं में सर्वथा युवा तपस्वी, देवी सरस्वती का वह वरद पुत्र, धूनी रमाये अपने अमर गान गा रहा था। उस किनारे पर साहित्यिकों तथा तपस्वियों के उस श्मशान में बैठा वह अमर गायक देखता था कि वासनाओं का तुमुल अंधड़ उठ-उठकर फैल रहा था; भौतिकता का वह प्रलयंकर प्रवाह भीषण वेग के साथ उमड़ रहा था और भावुकता की वे सुकुमार सुन्दर तरंगें जड़ जगत् के तट पर टकरा-टकराकर छिन्न-भिन्न हो रही थीं, और वह तपस्वी—

(वह) पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

× × ×

समय अधिक हो गया था, साढ़े चार बजने वाले थे; उधर मोटर वाला स्टेशन पर लौटने के लिए जल्दी मचा रहा था। प्रसादजी से विदा ली और लौटते समय इस बात का मन-ही-मन अनुभव किया कि यदि प्रसादजी से मिलना न होता तो एक बहुत ही बड़ा सुअवसर खो देता। आज उन घड़ियों को स्मरण कर रायसाहब को धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जाता। उस दिन रायसाहब ने प्रेमचन्दजी के लिए भी पूछताछ की थी; परन्तु ज्ञात हुआ कि वे अपने गाँव चले गये थे। उस दिन प्रेमचन्दजी से न मिल सका और बाद में दूसरा अवसर ही नहीं आया। अगर उस दिन प्रसादजी से न मिलता, तो फिर उनसे भी मिलने का अवसर नहीं मिलता। प्रेमचन्दजी से न मिलने का खेद रह गया है और तब प्रसादजी के भी दर्शन न कर सकने का अफ़सोस भी रह जाता। प्रसादजी से जिनका निजी परिचय था, वे ही जानते हैं कि प्रसादजी से एक बार मिलते ही किस प्रकार अनजाने ही उनके प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी।

× × ×

'कामायनी' छपकर प्रकाशित हो गई और उसकी प्रति पाकर उस महान् रचना के लिए महाकवि को बधाई भी दी;

परन्तु तब कौन जानता था कि वह ग्रंथ ही प्रसादजी की सर्व-श्रेष्ठ ही नहीं, अन्तिम कृति भी होगा। उस समय प्रसादजी बीमार होकर बिस्तर पर पड़ चुके थे। प्रसादजी की अस्वस्थता की खबरें अखबारों में छपने लगीं और उनके मित्रों, प्रेमियों और प्रशंसकों ने प्रसादजी से बार-बार आग्रह किया कि वे अपना समुचित इलाज करावें और हवा बदलने के लिए बनारस छोड़कर किसी दूसरे स्थान को चले जायँ। परन्तु, नहीं। प्रसादजी को बनारस छोड़ना मंजूर न था। उन्होंने किसी की न सुनी और न मौत ने ही किसी की प्रार्थना पर ध्यान दिया। बीच में कुछ-कुछ आशा भी होने लगी थी कि वे अच्छे हो जायँगे; परन्तु 'आँसू' का वह गायक अनुभव कर रहा था कि—

चेतना लहर न उठेगी
जीवन-समुद्र थिर होगा।
संध्या हो स्वर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

प्रसादजी के मित्रों ने, प्रेमी साथियों ने उनको धीरे-धीरे मरते देखा। उनका बरसों का साथ छूट रहा था, वे बेबस बैठे देख रहे थे। उन्हें शायद यह ज्ञात हो गया था कि अब प्रसादजी कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। परन्तु, जो बनारस से सैकड़ों कोस दूर थे, जिन्हें पूरी-पूरी हालत का पता न था, उन्हें फिर भी आशा बनी रही। परन्तु, जब अचानक एक दिन